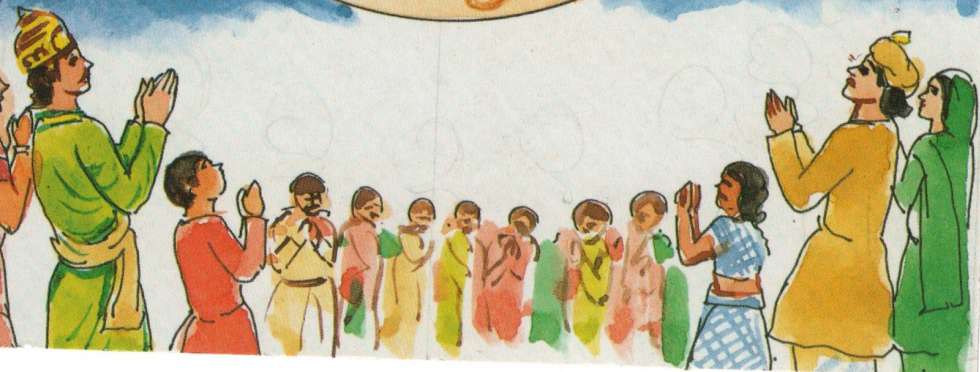


भगवान् पार्श्वनाथ



(भगवान महावीर २६सौवां जन्मकल्याणक वर्ष)

भगवान पार्श्वनाथ

लेखक :
ब. हरिलाल जैन

अनुवादक :
मगनलाल जैन

सम्पादक :
अखिल बंसल
एम.ए. डि. पत्रकारिता

प्रकाशक :
समन्वय वाणी प्रकाशन
स्टेशन रोड, दुर्गापुरा, जयपुर-302018

प्रथम दो संस्करण : 4000

(26 मई, 96 से अद्यतन)

तृतीय संस्करण : 3000

(21 अक्टूबर, 2001)

योग : 7000

मूल्य : सात रुपए

मुद्रण व्यवस्था :

प्रिन्टोमैटिक्स

दुर्गापुरा, जयपुर - 302018

फोन : 722274, 721819

प्रकाशकीय

समन्वय वाणी प्रकाशन, जयपुर द्वारा प्रकाशित 'भगवान पार्श्वनाथ' का यह जीवन चरित्र प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

जैनधर्म के तेईसवें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ इतिहास पुरुष हैं। भगवान पार्श्वनाथ का जीवन चरित्र जैनाचार्य जिनसेन ने 'महापुराण' नामक ग्रन्थ में विस्तार से लिखा है। प्रस्तुत कृति के लेखक स्व. ब्र. हरिभाई हैं जिन्होंने प्रथमानुयोग का साहित्य लिखकर बालकों को धर्म के प्रति रुचि जागृत करने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है। आज वे हमारे बीच नहीं हैं, परन्तु उनका योगदान चिरस्मरणीय रहेगा।

जैन समाज में बालोपयोगी साहित्य का प्रकाशन अभी नगण्य ही है। बच्चों में धार्मिक संस्कार दृढ़ हों, इस उद्देश्य को पूरा करने हेतु हमने बाल साहित्य को घर-घर पहुँचाने का बीड़ा उठाया है।

इस पुस्तक का प्रकाशन विशेष रूप से बच्चों में धार्मिक रुचि पैदा करने के उद्देश्य से किया गया है ताकि उनका यह सचित्र जीवन चरित्र पढ़कर बाल वर्ग को हमारी संस्कृति व इतिहास की विस्तृत जानकारी प्राप्त हो सके।

प्रस्तुत कृति का सम्पादन कार्य समन्वय वाणी के यशस्वी सम्पादक श्री अखिल बंसल ने किया है। प्रसिद्ध चित्रकार श्री अनन्त कुशवाहा ने अपनी तूलिका के माध्यम से चित्रों द्वारा कृति को सुसज्जित कर इसके आकर्षण में चार चाँद लगा दिए हैं। इस सहयोग के लिए हम उनके हृदय से आभारी हैं।

आप सभी इस कृति के माध्यम से अपना आत्महित कर भव का अभाव करें इसी कामना के साथ -

- शैल बंसल

हमारे प्रकाशन

- | | | |
|-----|--|-------------|
| 1. | भगवान ऋषभदेव | 10=00 |
| 2. | भगवान चन्द्रप्रभ | 7=00 |
| 3. | भगवान शान्तिनाथ | 8=00 |
| 4. | भगवान मल्लिनाथ | 6=00 |
| 5. | भगवान नेमिनाथ | 8=00 |
| 6. | भगवान पार्श्वनाथ | 7=00 |
| 7. | भगवान बाहुबली | 5=00 |
| 8. | जिनेन्द्र पूजांजलि | (प्रेस में) |
| 9. | गौरव गाथा आचार्यश्री विद्यानन्दजी (चित्रकथा) | 25=00 |
| 10. | गोम्मटेश बाहुबली (चित्रकथा) | (प्रेस में) |
| 11. | कविवर वनारसीदास (चित्रकथा) | (प्रेस में) |
| 12. | कहान कथा : महान कथा (चित्रकथा) | (प्रेस में) |

हमारे यहाँ उपलब्ध अन्य प्रकाशन

- | | | |
|----|---------------------------------|-------|
| 1. | मंगल तीर्थयात्रा | 5=00 |
| 2. | अध्यात्म बारहखड़ी | 7=00 |
| 3. | चतुर चितारणी | 10=00 |
| 4. | क्षत्रचूड़ामणि परिशीलन | 3=00 |
| 5. | क्षत्रचूड़ामणि (जीवन्धर चरित्र) | 25=00 |

राष्ट्रीय एवं अहिंसक संस्कृति की

जीवन्त पाक्षिकी

समन्वय वाणी

ग्राहक बनें : सहयोग दें

• वार्षिक शुल्क : 50 रुपए • आजीवन शुल्क : 501 रुपए

भगवान पार्श्वनाथ

मरुभूति और कमठ

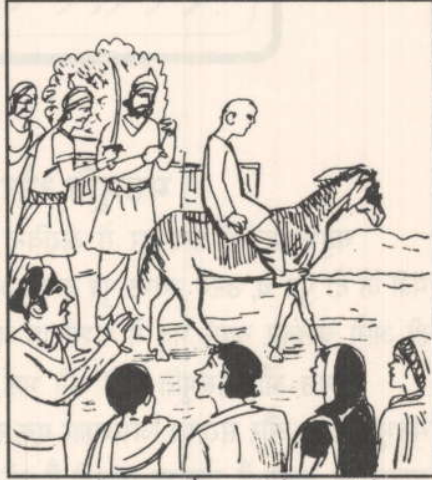
चतुर्थकाल में पोदनपुर में अरविन्द नामक राजा राज्य करते थे, उनके मंत्री के दो पुत्र थे, उनमें ज्येष्ठ पुत्र कमठ और छोटा मरुभूति था। यह मरुभूति ही आगे चलकर नवमें भव में पार्श्वनाथ बनता है।

कमठ और मरुभूति दोनों सगे भाई थे, कमठ क्रोधी और दुराचारी था, मरुभूति शांत और सरल। जिसप्रकार एक लोहे में से तलवार भी बनती है और बख्तर भी बनता है, तलवार काटती है और बख्तर रक्षा करता है, उसी प्रकार एक ही माता के दो पुत्र उनमें से एक कुपुत्र है और दूसरा सुपुत्र। क्रोधी कमठ सदा दोष देखता है और मरुभूति विनय से सदगुण देखता है। प्रिय पाठक! आगे चलकर तुम्हें ज्ञात होगा कि क्रोध से जीव का कितना अहित होता है और शांति से एवं सदगुणों से वह कितना सुखी होता है।

अरविन्द राजा के मंत्री ने एक बार सिर में श्वेत बाल देखकर मुनि के निकट जिनदीक्षा ले ली। राजा ने उसके पुत्र को मंत्री बनाया। बड़ा भाई कमठ क्रोधी और दुष्ट प्रकृति का था जिससे उसे मंत्रीपद नहीं मिला और छोटे भाई को मंत्रीपद प्राप्त हुआ, इस घटना से कमठ के मन में उसके प्रति ईर्ष्या उत्पन्न हो गई।

एक बार राजा अरविन्द किसी दूसरे राजा से युद्ध करने गये तब मंत्री मरुभूति को साथ ले गये। राजा और मंत्री दोनों के बाहर जाने से दुष्ट कमठ

ऐसा वर्तव करने लगा जैसे स्वयं ही राजा हो, वह प्रजा को हैरान करने लगा। छोटे भाई मरुभूति की पत्नी अति सुन्दर थी, उसे देखकर कमठ उस पर मोहित हो गया। उसने मरुभूति की पत्नी को कपटपूर्वक एक फुलवाड़ी में बुलाया और उसके साथ दुराचार किया। कुछ दिन बाद राजा अरविन्द युद्ध का भार मंत्री मरुभूति को सौंपकर स्वयं पोदनपुर लौट आये। वहां लोगों के मुंह से जब कमठ के दुराचार की कथा सुनी तब उन्हें विचार आया कि ऐसे अन्यायी दुराचारी का हमारे राज्य में रहना उचित नहीं है। उन्होंने उसका सिर मुंडाकर काला मुंह करके, गधे पर बैठाकर नगर से बाहर निकलवा दिया। पापी कमठ की ऐसी दुर्दशा देखकर नगरवासी कहने लगे कि देखो, पापी जीव अपने पाप का कैसा फल भोग रहा है, इसलिये पापों से दूर रहे।



राजा ने कमठ को नगर से निष्कासित कर दिया, जिससे वह बड़ा दुःखी हुआ और तापस लोगों के मठ पर जाकर वहां बाबा बनकर रहने लगा तथा कुगुरुओं की सेवा करने लगा। उसे कुछ ज्ञान तो था नहीं, वैराग्य भी नहीं था। अज्ञान और क्रोध के कारण वह एक बड़ा पत्थर हाथों में उठाकर खड़े-खड़े तप करने लगा और उसी में धर्म मानने लगा।

युद्ध में गया मरुभूति जब लौटकर आया और उसे ज्ञात हुआ कि उसके बड़े भाई कमठ को राजा ने नगर से निष्कासित कर दिया, तब उसे बड़ा दुःख हुआ। भाई पर क्रोध न करके मरुभूति ने उससे मिलने तथा घर वापिस लाने का विचार किया और वह उसकी खोज करने निकल पड़ा। ढूँढ़ते-ढूँढ़ते अन्त में उसे कमठ का पता चल गया। उसका भाई बाबा बनकर मिथ्या तप कर रहा

है यह देखकर उसे बहुत दुःख हुआ। वह कमठ के पास जाकर हाथ जोड़कर बोला-हे भाई ! मुझे तुम्हारे बिना अच्छा नहीं लगता। जो हुआ सो हुआ, अब आप इस मिथ्या वेश को छोड़कर मेरे साथ घर लौट चलो। आप मेरे ज्येष्ठ भ्राता हो, इसलिये मुझपर क्रोध न करके मुझे क्षमा कर दो। ऐसा कहकर मरुभूति ने भाई कमठ को वंदन किया।

परन्तु दुष्ट कमठ का क्रोध तो और भी बढ़ गया। इसी के कारण मैं इतना अपमानित हुआ हूँ, और अब यहाँ भी मुझे दुःखी करने आया है। मेरे पाप की बात यह यहाँ सबसे कह देगा तो ?-ऐसा विचार आने से उसने हाथों में उठाये हुए उस पत्थर का प्रहार

मरुभूति के सिर पर किया। पत्थर लगते ही मरुभूति का सिर फूट गया, रक्त बहने लगा और कुछ ही देरमें उसका प्राणान्त हो गया। अरेरे ! क्रोध के कारण सगे भाई की मृत्यु हुई ! रे संसार ! जिस प्रकार सर्प से कभी अमृत प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार क्रोध से कभी सुख नहीं मिलता। क्षमा जीव का स्वभाव है, उसके सेवन से ही सुख की प्राप्ति होती है।



पत्थर के प्रहार से जब मरुभूति की मृत्यु हो गई तब उसे भी भंयकर वेदना के कारण आर्तध्यान हो गया। क्योंकि अभी उसे आत्मज्ञान तो हुआ नहीं था, इसलिये आर्तध्यान से मरकर वह सम्मेदशिखर के निकट वन में विशाल हाथी हुआ।

कमठ ने अपने भाई को पत्थर से मार डाला, यह बात जब आश्रम के तापसों ने जानी तब उन्होंने कमठ को पापी मानकर उसे वहाँ से निकाल दिया। पापी कमठ चोरों के गिरोह में सम्मिलित होकर चोरी करने लगा। एक बार

चोरी करते हुए पकड़े जाने पर उसे भयंकर मार पड़ी, जिससे वह बहुत दुःखी हुआ, परन्तु उसके भावों में कोई परिवर्तन नहीं आया। अन्त में क्रोध से मरकर वह कुक्कट नामका भयंकर विषैला सर्प हुआ।

हाथी और सर्प

मरुभूति तो मरकर हाथी हुआ, परन्तु राजा अरविन्द को उसकी कोई खबर नहीं मिलने से वह चिन्तित रहने लगा कि मरुभूति मेरा मंत्री अभी तक क्यों नहीं लौटा? उन्हीं दिनों वहां एक अवधिज्ञानी मुनिराज का आगमन हुआ। उनका उपदेश सुनकर राजा को हार्दिक प्रसन्नता हुई। राजा ने उनसे पूछा कि हमारा मंत्री मरुभूति कहाँ है? और अभी तक क्यों नहीं आया?

मुनिराज ने कहा- हे राजन्! मरुभूति को तो उसके भाई कमठ ने मार डाला है, और उसे हाथी की पर्याय मिली है तथा कमठ भी मरकर सर्प हुआ है।

यह सुनकर राजा को अत्यन्त दुःख हुआ। वह विचारने लगा - अरे! कैसा है यह संसार! दुष्ट कमठ के संग से मरुभूति भी दुःखी हुआ।

मुनिराज ने समझाया कि हे राजन्! इस संसार में जीव जब तक ज्ञान नहीं करता तब तक उसे ऐसे जन्म-मरण होते ही रहते हैं। अपने हित के लिए दुष्ट अज्ञानी जीवों का संग छोड़कर ज्ञानी-धर्मात्माओं का संग करना योग्य है।

राजा उदास चित्त से महल में आया। एक बार वह राजमहल की छत पर बैठा-बैठा मुनिराज के उपदेश का स्मरण करके वैराग्य का विचार कर रहा था। इतने में एक घटना हुई, आकाश में रंगबिरंगे मेघ एकत्रित होने लगे और



कुछ ही देर में ऐसी रचना हो गई मानो एक सुन्दर जिनमन्दिर हो ! अतिसुन्दर दृश्य था वह अहा ! आकाश में ऐसे ही सुन्दर जिनमन्दिर का निर्माण कराऊंगा। ऐसे विचार आते ही उसने उस मन्दिर की आकृति बना लेने की तैयारी की। परन्तु उसने कलम हाथ में ली कि देखते ही वह मेघ रचना बिखर गई और मन्दिर की आकृति विलीन हो गई।

यह देखकर राजा दिग्मूढ हो गया... अरे ! ऐसा अस्थिर संसार ! ऐसे क्षणभंगुर संयोग !... यह राजपाट, यह रानियाँ यह शरीरादि... सब संयोग इन मेघों की भाँति बिखर जानेवाले विनाशक हैं । अरे, ऐसे अस्थिर इन्द्रियविषयों में दिन रात लगे रहना यह जीव को शोभा नहीं देता । यह शरीर नाशवान है और यह भोग भवरोग को बढ़ाने वाले हैं । जिसे अपना हित करना हो उसे इन भोगों की लालसा में जीवन गँवाना उचित नहीं है । जिसप्रकार यह मेघ-रचना क्षणभर में बिखर गई, उसी प्रकार मैं भी अविलम्ब इस संसार को छोड़कर मुनि बनूंगा और आत्मध्यान द्वारा कर्मरूपी बादलों को बिखेर दूंगा ।

इसप्रकार अत्यन्त वैराग्यपूर्वक राजपाट छोड़कर राजा अरविन्द वन में चले गये और निर्ग्रन्थ गुरु के निकट दीक्षा लेकर मुनि हुए । इन्हीं अरविन्द मुनिराज द्वारा हाथी का जीव आत्मज्ञान प्राप्त करता है, उसका रोमांचक वर्णन आप अगले प्रकरण में पढ़ेंगे ।

हाथी के भव में सम्यक्त्व प्राप्ति

सम्मेदशिखर यह अपने जैनधर्म का महान तीर्थ है । वहां से अनन्त जीव सिद्धपद को प्राप्त हुए हैं, उनकी यात्रा करने से सिद्धपद का स्मरण होता है । अनेक मुनि वहां आत्मध्यान करते हैं । ऐसे महान तीर्थ सम्मेदशिखर की यात्रा हेतु एक विशाल संघ चला जा रहा है । उस यात्रासंघ में अनेक मुनि तथा हजारों श्रावक हैं, कितने ही छोटे-छोटे बालक भी उत्साह पूर्वक यात्रा करने जा रहे हैं । अरविन्द मुनिराज भी संघ के साथ विहार कर रहे हैं । रत्नत्रयधारी वे मुनिराज धर्मकथा कहते हैं और आत्मा का स्वरूप समझाते हैं, जिसे सुनकर सबको बड़ा ही आनन्द होता है । कभी भक्तिपूर्वक मुनिराज को आहारदान देने का अवसर

प्राप्त होने से श्रावकों को महान हर्ष होता है। समस्त साधर्मीजन परस्पर धर्मचर्चा और पंचपरमेष्ठी का गुणगान करते हुए सम्मेदशिखर की ओर चले जा रहे हैं। चलते-चलते उस संघ ने एक वन में पड़ाव डाला। शांत सुन्दर वन हजारों मनुष्यों के कोलाहल से गूँज उठा। जंगल में मानो एक नगर बस गया। मुनिराज अरविन्द एक वृक्ष के नीचे आत्मध्यान में बैठे हैं। इतने में एक घटना हुई...क्या हुआ? वह सुनो।

एक विशाल हाथी पागल होकर इधर-उधर दौड़ने लगा, जिससे लोगों में भगदड़ मच गई। कौन था वह हाथी?—कुछ ही भव पश्चात् वही पार्श्वनाथ भगवान बननेवाला है। जो पूर्वभव में मरुभूति मंत्री था वही मरकर हाँथी हुआ है, उसका नाम है वज्रघोष। वह हाथी इस वन का राजा है, और स्वच्छन्द होकर विचरण करता है। सुन्दर वन में एक सरोवर है जिसमें यह प्रतिदिन स्नान करता है, वन के मिष्ट फल-फूल खाता है और हथिनियों के साथ क्रीड़ा करता है।

घने निर्जन वन में इतने अधिक मनुष्य और वाहन उस हाथी ने कभी देखे नहीं थे, इसलिए वह एकदम भड़क उठा और पागल होकर लोगों को कुचलने लगा। लोग चिल्लाते और हाहाकार करते इधर-उधर दौड़ रहे थे कितनों को उसने पैरों से कुचला तो कितनों को सूँढ़ में उठा-उठाकर पछाड़ दिया। रथों को तोड़ डाला और वृक्षों का उखाड़ दिया। अनेक लोग भयभीत होकर रक्षा हेतु मुनिराज की शरण में जा पहुँचे।



पागल हाथी चारों ओर हाहाकार मचाता हुआ, चिंघाड़ता हुआ उधर आया जहाँ अरविन्द मुनिराज विराजते थे। लोग डरके मारे काँप उठे कि न जाने यह पागल हाथी मुनिराज को क्या कर

डालेगा ? मुनिराज तो शांत होकर बैठे हैं । उन्हें देखते ही सूँढ़ उठाकर वह उनकी ओर दौड़ा, परन्तु.....

...परन्तु अरविन्द मुनिराज के वक्ष में एक चिन्ह देखते ही वह एकदम शांत हो गया, उसे लगा कि अरे, इन्हें मैंने कहीं देखा है । यह तो मेरे कोई परिचित और हितैषी लगते हैं । ऐसा विचारते हुए वह एकदम शांत खड़ा रहा, उसका पागलपन मिट गया और मुनिराज के सन्मुख सूँढ़ झुकाकर बैठ गया ।

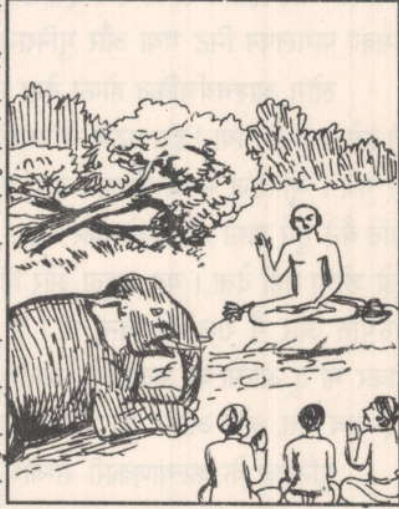
लोग आश्चर्यचकित होकर देख रहे थे कि अरे, मुनिराज के सामने आते ही इसे क्या हो गया ! इस घटना से प्रभावित लोग मुनिराज के आसपास एकत्रित हो गये । मुनिराज ने अवधिज्ञान द्वारा हाथी के पूर्वजन्म को जान लिया, और शांत बैठे हुए हाथी को सम्बोधक कहा - अरे, बुद्धिमान गजराज, यह पागलपना तुझे शोभा नहीं देता । यह पशुता और हिंसा छोड़ दे । पूर्वभव में तू हमारा मंत्री मरुभूति और मैं राजा अरविन्द था । मैं इस भव में मुनि हुआ हूँ । मेरा मंत्री होकर भी तू आत्मा को भूला और आर्तध्यान करने से तुझे यह पशु पर्याय प्राप्त हुई अब चेत, और आत्मा की पहिचान कर ।

मुनिराज के कल्याणकारी सम्बोधन से उसे वैराग्य हो गया और अपने पूर्वभव का जातिस्मरण ज्ञान हुआ । अपने दुष्कर्म के लिए उसे तीव्र पश्चाताप होने लगा, उसकी आँखों से अश्रुधारा बहने लगी, वह विनयपूर्वक मस्तक झुकाकर मुनिराज के सन्मुख देख रहा था । प्राकृतिक रूप से उसका ज्ञान इतना विकसित हुआ कि वह मनुष्य की भाषा समझने लगा, और उसे मुनिराज की वाणी सुनने की जिज्ञासा जागृत हो उठी ।

मुनिराज ने जब जाना कि इस हाथी के परिणाम विशुद्ध हुए हैं, इसे आत्मा समझने की तीव्र जिज्ञासा जागृत हुई है और यह तो एक भावी तीर्थकर है तब अत्यन्त वात्सल्यपूर्वक वे हाथी को उपदेश देने लगे अरे गजराज ! तू शांत हो, यह पशु पर्याय कहीं तेरा स्वरूप नहीं है, तू तो शरीर से भिन्न चैतन्यमय आत्मा है, आत्मा को जाने बिना तूने अनेक भवों में दुःख भोगे हैं, इसलिये अब आत्मा के स्वरूप को समझकर सम्यग्दर्शन प्राप्त कर । सम्यग्दर्शन ही जीव को

महान सुखकारी है। राग और ज्ञान को एकमेक अनुभवने का अविवेक तू छोड़...छोड़ ! तू प्रसन्न हो...सावधान हो...और सदा उपयोगरूप स्वद्रव्य ही मेरा है-ऐसा अनुभव कर, उससे तुझे अति आनन्द होगा। तू निकटभव्य है, इसलिये आज ही ऐसा अनुभव कर।

मुनिराज उसे आत्मा का शुद्ध स्वरूप बतलाते हैं। 'रे जीव ! तेरा आत्मा अनंत गुणरत्नों का भण्डार है...यह हाथी का विशाल शरीर तो पुद्गल है, यह कहीं तू नहीं है, तू तो ज्ञानस्वरूप है, तेरे ज्ञानस्वरूप में पाप तो नहीं है, किन्तु पुण्य का शुभराग भी नहीं है, तू तो वीतरागी आनन्दमय है।-ऐसे अपने स्वरूप को अनुभव में ले।



ऐसे अनेक प्रकार से मुनिराज ने सम्यग्दर्शन का उपदेश दिया, जिसे सुनकर हाथी के परिणाम अंतर्मुख हुए और अंतर में अपने आत्मा के सच्चे स्वरूप का अवलोकन करने से उसे सम्यग्दर्शन हो गया परम आनन्द का अनुभव हुआ...उसे ऐसा भासित हुआ कि -“अहा, अमृत का सागर मेरे आत्मा में लहरा रहा है...परभावों से भिन्न सच्चे सुख का अनुभव आत्मा में हो रहा है। क्षणमात्र ऐसे आनन्द के अनुभव से अनन्त भव की थकान उतर जाती है।” ऐसे आत्मा का बारम्बार अनुभव करने का उसे मन हुआ। उपयोग पुनः पुनः अंतर में एकाग्र होने लगा। उस अनुभव की अचिन्त्य अपार महिमा का कोई पार नहीं था। “आत्म उपयोग सहजरूप से शीघ्रता पूर्वक अपने स्वरूपोन्मुख होने से सहज निर्विकल्प स्वरूप अनुभव में आया। चैतन्यप्रभु अपने ‘एकत्व’ में आकर निजानन्द में डोलने लगा। वाह ! आत्मा का स्वरूप कोई अद्भुत है ! परमतत्व को पाकर मैंने चैतन्य प्रभुको अपने में ही देखा।”

इसप्रकार सम्यग्दर्शन होने से हाथी के आनन्द का कोई पार नहीं रहा। उसकी आनन्दमय चेष्टाएँ तथा आत्मशांति देखकर मुनिराज को भी लगा कि इस हाथी को आत्मज्ञान हुआ है, भवका उच्छेद करके वह मोक्ष के मार्ग में आया है। मुनिराज ने प्रसन्न होकर, हाथ उठाकर हाथी को आशीर्वाद दिया। संघ के हजारों लोग भी यह दृश्य देखकर अति हर्षित हुए। एक क्षण में यह क्या हो गया...वह सब आश्चर्य से देखने लगे।

आत्मज्ञान हो जाने से हाथी अत्यन्त भक्तिभाव से मुनिराज का उपकार मानने लगा। अरे! पूर्वकाल में आत्मा को जाने बिना आर्तध्यान करके मैंने पशुपर्याय पायी, परन्तु अब इन मुनिराज के प्रताप से मुझे आत्मज्ञान हुआ है, और अब आत्मा के ध्यान द्वारा मैं परमात्मा होऊंगा। ऐसा विचार कर वह हाथी सूँढ़ झुका-झुकाकर मुनिराज को नमस्कार कर रहा था।

मुनिराज के पास सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझकर, हाथी के साथ-साथ दूसरे भी अनेक जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए। जिसप्रकार तीर्थकर अकेले मोक्ष में नहीं जाते, दूसरे अनेक जीव उनके साथ मोक्ष प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार यहाँ जब तीर्थकर के आत्मा ने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया तब दूसरे अनेक जीव भी उनके साथ सम्यक्त्व को प्राप्त हुए और चारों ओर धर्म की जय-जयकार हो गई। कुछ ही समय पूर्व जो हाथी पागल होकर हिंसक बन गया था, वही अब आत्मज्ञानी होकर अहिंसक बन गया और मुनिराज से पुनः पुनः धर्मश्रवण करने हेतु उनकी ओर आतुरता से देखने लगा। अनेक श्रावक भी उपदेश सुनने बैठे थे।

श्री मुनिराज ने मुनिधर्म का उपदेश दिया-सम्यग्दर्शन एवं आत्मज्ञान के उपरान्त जब चरित्रदशा होती है अर्थात् आत्मा का विशेष अनुभव होता है तब जीव को मुनिदशा होती है। वे मुनि उत्तम क्षमादि दसधर्मों का पालन करते हैं, और हिंसादिक पाँच पाप उनके किंचित नहीं होते इसलिये उनके पाँच महाव्रत होते हैं। और सम्यग्दर्शन होने पर जो जीव मुनि नहीं हो सकते वे श्रावक धर्मका पालन करते हैं, उनको आत्मज्ञान सहित अहिंसादि पाँच अणुव्रत होते हैं।

तिर्य्यचगति में भी श्रावकधर्म का पालन हो सकता हैं इसलिये हे गजराज ! तुम श्रावक धर्म को अंगीकार करो ।

मुनिराज के पास धर्म का उपदेश सुनकर अनेक जीवों ने द्रत धारण किये । हाथी को भी भावना जागृत हुई कि यदि मैं मनुष्य होता तो मैं भी उत्तम मुनिधर्म अंगीकार करता, इस प्रकार मुनिधर्म की भावनासहित उसने श्रावक धर्म अंगीकार किया । मुनिराज के चरणों में नमस्कार करके उसने पाँच अणुव्रत धारण किये, वह श्रावक हो गया ।

सम्यग्दर्शन प्राप्त करके व्रतधारी हुआ वह वज्रघोष हाथी बारम्बार मस्तक झुकाकर अरविन्द मुनिराज को नमन करने लगा, सूँढ़ ऊंची-नीची करके उपकार मानने लगा । हाथी की ऐसी धर्म चेष्टा देखकर श्रावक बहुत संतुष्ट हुए और जब मुनिराज ने घोषणा की कि यह हाथी का जीव आत्मोन्नति करते-करते भरत क्षेत्र में तेइसवां तीर्थंकर होगा तब तो सबको अत्यन्त हर्ष हुआ । हाथी को धर्मात्मा जानकर श्रावक उसे प्रेमपूर्वक निर्दोष आहार देने लगे ।

यात्रासंघ ने कुछ समय उस वन में रुककर फिर सम्मेदशिखर की ओर प्रस्थान किया । हाथी का जीव कुछ भवों के पश्चात इसी सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त करने वाला है । अरविन्द मुनिराज भी संघ के साथ विहार करने लगे तब वह हाथी भी विनयपूर्वक अपने गुरु को विदा करने हेतु कुछ दूर तक पीछे-पीछे चलता रहा अंत में मुनिराज को पुनः पुनः वंदन करके गद्गद् होकर अपने वन की ओर लौट चला ।

अब, वह पाँच व्रतों सहित निर्दोष जीवन जी रहा है, स्वयं जिस शुद्ध आत्मा का अनुभव किया उसकी बारम्बार भावना करता है । किसी भी जीव को सताता नहीं है, त्रसहिंसा हो ऐसा आहार नहीं करता, शांतभाव से रहकर सूखे हुए घास-पत्ते खाता है, कभी-कभी उपवास भी करता है । चलते समय देख-देखकर पांव रखता है, हथिनियों का संघ उसने छोड़ दिया है । विशाल शरीर के कारण अन्य जीवों को कष्ट न हो इसलिये वह शरीर का बहुत हलन-चलन नहीं करता, वनके अन्य प्राणियों के साथ शांति से रहता है और

गुरु के उपकार का बारम्बार स्मरण करता है। हाथी की ऐसी शांत चेष्टा देखकर दूसरे हाथी उसकी सेवा करते हैं, वन के बन्दर तथा अन्य पशु भी उससे प्रेम करते हैं और सूखे हुए घास-पत्ते लाकर उसे खिलाते हैं।

पूर्वभव का उसका भाई कमठ, जो क्रोध से मरकर विषधर सर्प हुआ है, वह इसी वन में रहता है और जीव जन्तुओं को मारकर खाता है तथा नवीन पापबंध करता है।

एक दिन प्यास लगने से वह हाथी सरोवर के निकट आया, सरोवर के किनारे वृक्षों पर अनेकों बन्दर रहते थे, वे उसे देखकर बड़े प्रसन्न हुए। सरोवर का स्वच्छ जल पीने के लिए वह हाथी कुछ भीतर तक गया कि उसके पांव कीचड़ में फंस गये बहुत प्रयत्न करने पर भी वह निकल नहीं सका। तब उसने आहार जल का त्याग करके समाधिमरण की तैयारी की वह पंचपरमेष्ठी का स्मरण करके आत्मा का चिन्तन करने लगा। वैराग्यपूर्वक वह ऐसा विचारने लगा कि अरे, अज्ञान से कुमरण तो मैंने अनन्तबार किये, किन्तु यह अवतार सफल है कि जिसमें समाधिमरण का सुअवसर प्राप्त हुआ है। श्री मुनिराज ने मुझपर महान कृपा करके देह से भिन्न आत्मस्वरूप मुझे समझाया, मेरे चैतन्यनिधान मुझे बतलाये। उनकी कृपा से मैंने अपना निजवैभव अपने आत्मा में देखा है। बस, अब इस देह से भिन्न आत्मा की भावना द्वारा मैं समाधिमरण करूंगा।



हाथी को कीचड़ में फँसा देखकर वन के बन्दर उसे बचाने के लिए किलकारियाँ मारने लगे, परन्तु वे छोटे-छोटे बन्दर उसे कैसे बाहर निकालते?...इतने में सर्प हुआ कमठ का जीव फुंकारता हुआ वहाँ आया, हाथी

को देखते ही पूर्वभव के वैर संस्कार के कारण उसे तीव्र क्रोध आया और दौड़कर हाथी को दंश मार दिया। कालकूट विषैले सर्प के दंश से हाथी को विष चढ़ गया और कुछ ही देर में उसका प्राणांत हो गया। परन्तु इस बार उसने पहले की भाँति आर्तध्यान नहीं किया, इसबार तो आत्मा के ज्ञानसहित धर्मकी उत्तम-भावना भाते-भाते उसने समाधिमरण किया, और शरीर को त्यागकर बारहवें स्वर्ग में देव हुआ।

सर्प ने हाथी को डस लिया यह देखकर बन्दरी को बड़ा क्रोध आया और उसने उसे मार डाला, पापी सर्प आर्तध्यान से मरकर पाँचवें नरक में जा पहुँचा। किसी समय जो दोनों सगे भाई थे, उनमें से पुण्य-पाप के फलानुसार एक तो स्वर्ग में गया और दूसरा नरक में।

तीर्थकरादि महापुरुषों के जीवन से आत्मा की आराधना सीखना है। पापके फल में नरकादि के भंयकर दुःख सहना पड़ते हैं, इसलिये उन्हें छोड़ना और पुण्य के फल में स्वर्गादि गतियाँ प्राप्त होती हैं, तथा आत्मा के ज्ञानसहित वीतराग भाव से मोक्ष मिलता है- ऐसा जानकर उसकी उपासना करना चाहिए।

हाथी बारहवें स्वर्ग में, सर्प पाँचवें नरक में

अपने चरित्र नायक का जीव पहले मरुभूति था, फिर हाथी हुआ और आत्मज्ञान प्राप्त किया, वहाँ से समाधिमरण करके बारहवें स्वर्ग में देव हुआ है, उसका नाम है शशिप्रभ। स्वर्ग की दिव्य विभूति देखकर वह आश्चर्यचकित हो गया और अवधिज्ञान से जान लिया कि मैंने हाथी के पूर्वभव में धर्म की आराधना सहित जो व्रतों का पालन किया था उसका यह फल है, ऐसा जानकर उसे धर्म के प्रति विशेष सन्मान की भावना हुई, पूर्वभव में आत्मज्ञान प्रदान करने वाले मुनिराज के उपकार का पुनः पुनः स्मरण किया, पश्चात् स्वर्ग में विराजमान शाश्वत जिन बिम्ब की पूजा की। स्वर्गलोक की रत्नमय शाश्वत वीतराग मूर्ति के दर्शन करते ही उसे अतिशय आनन्द हुआ, और ऐसे ही अपने आत्मा की भावना की। वह असंख्यात वर्षों तक स्वर्गलोक में रहा। वहाँ बाह्य में अनेक प्रकार के कल्पवृक्षों से सुख सामग्री प्राप्त होती थी और अंतर में

चैतन्य-कल्पवृक्ष के सेवन से वह सच्चे सुखका अनुभव करता था। देखो तो सही, जैनधर्म के प्रताप से एक पशु भी देव हो गया, और कुछ ही काल पश्चात् तो वह भगवान होगा ! अहा, जिसके प्रताप से पशु भी परमात्मा बन जाते हैं-ऐसे जैनधर्म की जय हो ! हमें भी संसार से छूटकर परमात्मा बनने के लिए जैनधर्म में कहे हुए आत्मा का स्वरूप जानना चाहिए।

कमठ का जीव जो कि सर्प हुआ था, वह मरकर पाँचवें नरक में गया और असंख्य वर्ष तक तीव्र दुःख भोगे। उसकी क्षुधा-तृषा का कोई पार नहीं था, उसके शरीर के प्रतिदिन हजारों टुकड़े हो जाते थे, लोहे का विशाल पिण्ड भी गल जाये ऐसी तो वहाँ सर्दी थी, करवत और भालों से उसका शरीर कटता और छिदता था, आत्मा का ज्ञान तो उसे था नहीं, और अच्छे भाव भी नहीं थे, अज्ञान एवं अशुभ भावों से वह अत्यन्त दुःखी होता था। पूर्वभव में अपने भाई के प्रति जो तीव्र क्रोध के संस्कार थे, वे भी उसके छूटे नहीं थे। क्रोध में नरक से निकलकर वह एक भयंकर अजगर हुआ।

अग्निवेग मुनि और अजगर

अपने कथा नायक भगवान पार्श्वनाथ का जीव स्वर्ग से चलकर जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र में अवतरित हुआ। वहाँ सीमंधरादि तीर्थंकर सदा विराजते हैं और दिव्यध्वनि में आत्मा का स्वरूप समझाते हैं। हजारों केवली अरहंत भगवान तथा लाखों जिनमुनि उस देश में विचरते हैं, वहाँ करोड़ों मनुष्य आत्मज्ञान करके धर्म की साधना करते हैं। उस देश की शोभा अद्भुत है ! देव भी वहाँ दर्शनार्थ आते हैं।

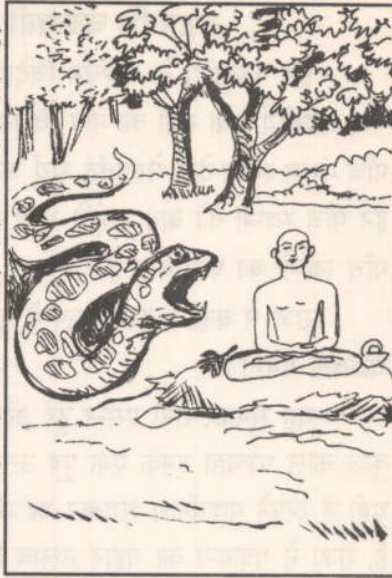
ऐसे सुन्दर विदेहक्षेत्र में पुष्कलावती देश के मध्य विजयाई पर्वत है, उसपर विद्याधरों के नगर हैं। उन्हीं में से एक नगर में विद्युतगति नामक राजा राज्य करते थे, उनकी रानी का नाम विद्युतमाला था, उन्हीं राजा-रानी के घर पार्श्वनाथ का जीव अवतरित हुआ, उसका नाम था अग्निवेग। वे पूर्वभव से

ही आत्मज्ञान साथ लेकर आये थे। एक छोटे से ज्ञानी की बाल चेष्टाएँ देखकर सबको बड़ा आनन्द होता था। एक बार राजकुमार अग्निवेग वनमें जाकर वनकी शोभा निहार रहे थे, वहाँ अचानक उन्होंने एक साधु को देखा। वे साधु आत्मचिंतन में एकाग्र थे, मानो साक्षात् भगवान् विराज रहे हों ऐसा उनके दर्शन से लगता था। उन्हें देखकर अग्निवेग को हार्दिक प्रसन्नता हुई, निकट जाकर उनकी वंदना करके वह उनके निकट बैठ गया और आत्मा का विचार करने लगा कि-अहा ! धन्य है ऐसी साधुदशा ! आत्मा में एकाग्र होकर आत्मा के अलौकिक आनन्द का अनुभव हो-ऐसी यह दशा है। कुछ ही देर में मुनिराज का ध्यान पूर्ण होने पर पुनः नमस्कार किया और मुनिराज ने उन्हें धर्मवृद्धि का आशीर्वाद देकर कहा— हे भव्य ! आत्मा के सम्यक् स्वभाव को तो तुमने जाना है, अब उस स्वभाव को विशेषरूप से साधने के लिये तुम मुनिदशा का चारित्र अंगीकार करो। अब तुम्हारा संसार अति अल्प शेष रहा है, मनुष्य के तीन भव करके तुम मोक्ष प्राप्त करोगे। पहले तुम चक्रवर्ती होगे और फिर तीर्थंकर होकर मोक्ष को प्राप्त करोगे।

अहा ! अपने मोक्ष की बात सुनकर किसे आनन्द नहीं होगा ? मुनिराज के मुख से अपने मोक्ष की बात सुनकर अग्निवेग अति आनन्दित हुआ। उसे संसार के प्रति तीव्र वैराग्य जागृत हुआ। अरे, मुझे तो अल्पकाल में मोक्ष साधना है, इस राजपाट में बैठे रहना मेरे लिये उचित नहीं है, मैं तो आज ही मुनि बनकर आत्मसाधना में एकाग्र होऊँगा।

इसप्रकार युवावस्था में उन राजकुमार ने वैराग्य प्राप्त किया और मुनिराज के निकट जिनदीक्षा लेकर साधुदशा धारण की। राजपाट छोड़ा, स्त्री-पुत्र छोड़े और वस्त्र भी त्याग दिये। सर्व परिग्रह तथा कषायों को भी छोड़कर अंतर के एकत्वस्वरूप को ध्याने लगे। मेरा यह आत्मा सर्व परभावों से भिन्न है, मैं एकाकी ज्ञान और सुख से परिपूर्ण हूँ, इसप्रकार निजात्मा के ध्यान में लीन रहकर वे अग्निवेग मुनिराज वन में विचरने लगे तथा मोक्ष की साधना करने लगे। इतने में एक घटना घटित हुई।

पूर्वभव का कमठ जो कि नरक में गया था और वहाँ से निकलकर विशाल अजगर हुआ था, वह अजगर भी विदेहक्षेत्र के इसी वन में रहता था। वह शिकार की खोज में इधर-उधर भटकता रहता था। वह जंगल के पशुओं को पूरे का पूरा निगल जाता था। एक दिन मुनिराज अग्निवेग ध्यान में लीन थे कि वह अजगर वहाँ आ पहुँचा। और फुँफकारता हुआ क्रोधपूर्वक मुनिराज पर झपटा! तब शांत रस में निमग्न क्षमावंत मुनिराज तो



ध्यान में लीन थे, उन्हें देखकर अजगर का क्रोध दूर नहीं हुआ, किन्तु मुंह फाड़कर पूरे के पूरे मुनिराज को निगल लिया। अजगर के पेट में भी मुनिराज ने आत्म ध्यान पूर्वक समाधिमरण किया और सोलहवें स्वर्ग में गये। देखो तो सही उनकी क्षमा। अजगर ने निगल लिया तथापि उस पर क्रोध नहीं किया और स्वयं आत्मा की साधना में लीन रहे। क्रोध में दुःख है और आत्मा की साधना में ही परमशांति है। ऐसे शांत भावों से उन्होंने समाधिमरण किया।

सोलहवें स्वर्ग में देव, कमठ छठवें नरक का नारकी

मुनिराज तो शांत भाव से समाधिमरण करके सोलहवें स्वर्ग में गये और अजगर क्रोधी भाव के कारण पुनः छठवें नरक में जा पड़ा और घोर दुःख सहन किये। दोनों की आयु बाईस सागर थी। एक बार जो दोनों सहोदर भ्राता थे, उनमें से एक तो बाईस सागर तक स्वर्ग के सुख भोगकर तथा दूसरा उतने ही काल तक नरक के दुःख सहन करके दोनों मनुष्य लोक में उत्पन्न हुए, उनमें से एक तो चक्रवर्ती हुआ और दूसरा शिकारी भील।

वज्रनाभि चक्रवर्ती और शिकारी भील

इस जम्बूद्वीप के पश्चिम विदेह में अश्वपुर नगर है, वहां के राजा का नाम वज्रवीर्य तथा रानी का नाम विजयादेवी था। एकबार रानी ने आनन्दकारी पाँच मंगल स्वप्न देखे-मेरुपर्वत, सूर्य, चन्द्र, देवविमान तथा जल से भरा सरोवर। इन पाँच स्वप्नों की बात उन्होंने राजा से कही और पूछा कि हे महाराज ! इन पाँच स्वप्नों का फल क्या है ?

राजा ने कहा— इनके फल में तुम्हारे उत्तम पुत्र का जन्म होगा और वह चक्रवर्ती बनेगा।

यह सुनकर रानी प्रसन्न हुई और पंचपरमेष्ठी का गुणगान करने लगी। कुछ काल पश्चात उनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम वज्रनाभि रखा। यही है अपने पार्श्वनाथ भगवान का जीव ! वह स्वर्ग से यहाँ अवतरित हुआ है, राजा ने पुत्रजन्म का महान उत्सव किया। छोटे से राजकुमार अपनी बाल चेष्टाओं से सबको आनन्दित करते थे। भले ही उम्र में छोटे, परन्तु महान आत्मज्ञानी थे। कभी-कभी वे आत्मा की मधुर बातें करते, जिन्हें सुनकर अनेक जीवों को धर्म की प्रेरणा मिलती। कभी वे एकान्त में ध्यान धरकर चैतन्य के चिन्तन में बैठ जाते मानो कोई छोटे से मुनि विराजते हों !

कुमार वज्रनाभि ज्यों-ज्यों बड़े होते गये त्यों-त्यों उनके अनेक प्रकार की विद्याओं का भी विकास होने लगा। वे बुद्धिसम्पन्न कुमार न्याय नीति के मार्ग पर चलने वाले तथा अनेक गुणरत्नों के भण्डार थे। युवा होने पर उनका राज्याभिषेक हुआ। एक बार उत्तम पुण्योदय से धर्मचक्रवर्ती तीर्थंकर का उनके देश में पदार्पण हुआ और उसी समय उनके राजभण्डार में चक्ररत्न की उत्पत्ति हुई। पुण्य की अपेक्षा धर्म श्रेष्ठ है ऐसा समझने वाले उन राजकुमार ने सर्वप्रथम धर्मचक्री तीर्थंकर देव की सभा में जाकर उनकी पूजा की और फिर सुदर्शनचक्र का उत्सव किया। उस सुदर्शनचक्र का ऐसा सामर्थ्य कि जिस शत्रुपर, छोड़ा जाये उसके प्राण हर ले। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि उस चक्र द्वारा एक भी जीव की हिंसा किये बिना उन्होंने छह खंड पर विजय प्राप्त कर ली

मानो अहिंसा चक्र द्वारा ही छहों खण्ड जीतकर वे चक्रवर्ती हो गये। चक्रवर्ती का अपार वैभव उन्हें प्राप्त हो गया। अद्भुत वैभव होने पर भी वे चक्रवर्ती जानते थे कि इस समस्त बाह्य वैभव की अपेक्षा हमारा अनन्त चैतन्य वैभव भिन्न प्रकार का है, वही सुख का दातार है, बाह्य का कोई वैभव सुख देनेवाला नहीं है, उसमें तो आकुलता है। पुण्य से प्राप्त बाह्य वैभव तो अल्पकाल ही रहने वाला है, और हमारा आत्मवैभव अनन्तकाल तक साथ रहेगा। सम्यग्दर्शनरूपी सुदर्शनचक्र द्वारा मोह को जीतकर मैं मोक्षसाम्राज्य प्राप्त करूँगा, वही मेरा सच्चा साम्राज्य है। ऐसी प्रतीति सहित वे जगत से उदास थे—

“दास भगवन्त के उदास रहे जगत सों,
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिति हैं।”

चक्रवर्ती राज्य में रहने पर भी अंतर में अद्भुत ज्ञान परिणति सहित वे प्रतिदिन अरिहंतदेव की पूजा, मुनिवरो की सेवा, शास्त्रस्वाध्याय, सामायिकादि क्रियाएँ करते थे। इसप्रकार धर्म संस्कारों से परिपूर्ण उनका जीवन अन्य जीवों को भी आदर्श रूप था।

एकबार उनकी नगरी में क्षेमंकर मुनिराज पधारे, उनकी मुद्रा प्रशमरस झरती-वीतरागी थी और वे अवधिज्ञान के धारी थे। वज्रनाभि चक्रवर्ती उनके दर्शन करने गये और उन्हें देखते ही उनके नेत्रों से आनन्द उमड़ने लगा धन्य रत्नत्रयधारी मुनिराज ! आपके वीतरागी तीन रत्नों के समक्ष यह चक्रवर्ती के चौदहरत्न बिलकुल तुच्छ है ! इसप्रकार अत्यन्त भक्तिपूर्वक मुनिराज की वन्दना एवं स्तवन करके आत्महित का उपदेश सुनने की जिज्ञासा प्रकट की।

तब मुनिराज ने उनको मोक्षमार्ग का अलौकिक उपदेश दिया, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रका वीतराग भाव समझाया, और कहा कि मोक्ष हेतु ऐसा वीतराग भाव ही कर्तव्य है। हे भव्य ! तुम इस संसार दुःख से छूटना चाहते हो तो ऐसी चारित्रदशा अंगीकार करो। राग आत्मा का स्वभाव नहीं है, राग तो दुःख है, इसलिये कहीं भी किंचित राग न करके, वीतराग होकर भव्यजीव भवसमुद्र से पार होते हैं। हे राजन् ! तुम भी ऐसे वीतराग धर्म की साधना में

तत्पर होओ। तुम्हें आत्मप्रतीति तो है ही, और अब तुम्हारे तीन भव शेष हैं, पश्चात् तुम तीर्थकर होकर मोक्ष को प्राप्त करोगे।

मुनिराज का ऐसा वीतराग उपदेश सुनकर चक्रवर्ती अति प्रसन्न हुए और उनको भी उत्तम वैराग्य भावनाएँ जागृत हुईं। शरीर एवं भोगों से उनका चित्त उदास हो गया और धर्म के प्रति उत्साह अत्यधिक बढ़ गया। उन्होंने मुनिराज से अत्यन्त विनयपूर्वक मुनिदीक्षा देने की प्रार्थना की। हे प्रभो ! इस दुःखमय संसार से मेरा उद्धार करो। रत्नत्रयरूपी नौका द्वारा मैं भी इस भवसमुद्र से पार होना चाहता हूँ। संसार में कही सुख नहीं है, इसलिये तीर्थकर भी संसार को त्यागकर मोक्ष की साधना करते हैं। हे प्रभो ! मैं भी मुनिदीक्षा लेकर तीर्थकर पथ पर चलना चाहता हूँ।

मुनिराज ने कहा— हे भव्य ! तुम्हारी भावना उत्तम है। तुम चक्रवर्ती की सम्पदा को असार जानकर त्यागने हेतु तत्पर हुए हो और सारभूत रत्नत्रय को धारण करना चाहते हो तुम्हें धन्य है ! ऐसा कहकर क्षेमंकर मुनिराज ने वज्रनाभिचक्रवर्ती को मुनिपद की दीक्षा दी। वे चक्रवर्ती अब राजपाट छोड़कर जिनमुद्राधारी मुनि हो गये। छह खण्ड की विभूति के उपभोग से उन्हें तृप्ति नहीं हुई, इसलिये मोक्ष का अखण्ड सुख साधने हेतु तत्पर हुए। धन्य वे मुनिराज ! उनके चरणों में नमस्कार हो !-

धन्य चक्रेश्वर आतमहित में छोड़ दिया घरवार,
कि तुमने छोड़ा सब संसार।

छोड़े चौदह रत्न नवों निधि जाना जगत असार,
कि तुमने छोड़ा सब संसार।

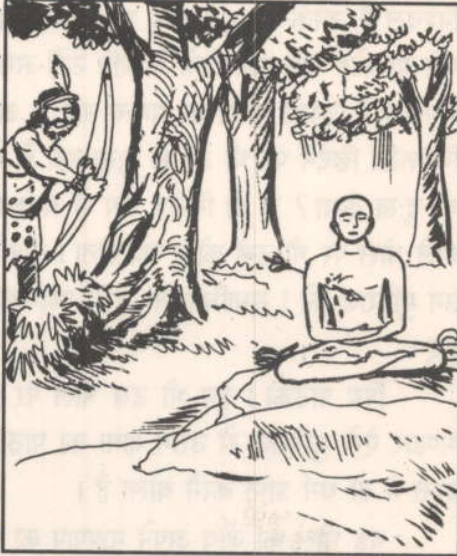
रत्नत्रय को धारण करके पहुँचे मुक्ति द्वार,
कि तुमने छोड़ा सब संसार।

गजराज के ऊपर रत्नजड़ित होदे पर आरूढ़ होकर चलने वाले चक्रवर्ती अब नंगे पाँव वनकी पथरीली भूमि पर चलने लगे। रत्न-मणिजड़ित वस्त्रालंकारों को छोड़कर नग्न-दिगम्बर मुद्राधारी वे मुनिराज अब रत्नत्रयरूपी आभूषणों से

सुशोभित हो रहे थे। सुवर्ण-थालों में भोजन लेने वाले अब हथेलियों में खड़े-खड़े आहार करने लगे। चौदह रत्न छोड़कर उन्होंने तीन रत्न ग्रहण किये, नव निधानों को त्यागकर अखण्ड आनन्द निधान की साधना में लग गये। छियानवे हजार रानियाँ और छियानवें करोड़ सेना का संग छोड़कर एकाकी-असंगरूप से वन-जंगल में वास करने लगे और चैतन्यस्वरूप आत्मा के ध्यान में लीन हो गये।

एक बार वे मुनिराज वन की एक शिलापर बैठे-बैठे आत्म ध्यान में लवलीन थे। सिद्ध भगवान समान अपने आत्मा का बारम्बार अनुभव करते थे।

जंगल में आसपास क्या हो रहा है उसका उन्हें रंचमात्र भी लक्ष्य नहीं है, मैं तो देह से भिन्न आत्मा हूँ मुझमें परिपूर्ण परमात्मा शक्ति विद्यमान है...इत्यादि ध्यान में एकाग्र थे कि...इतने में दूर से एक तीर सनसनाता हुआ आया और मुनिराज का शरीर विंध गया...



कहाँ से आया था वह तीर? उनका पूर्वभव का भाई कमठ का जीव जो कि नरक में गया था और वहाँ से निकलकर

कुरंग नाम का शिकारी भील हुआ था, वह भील इसी वन में रहता था और धनुष बाण द्वारा क्रूर परिणामों से हिरन आदि निर्दोष पशुओं की हिंसा करता था। वह मांस का लोलुपी था और महान पापबंध कर रहा था। वन में चतते-फिरते वह भील वहाँ आ पहुंचा जहाँ मुनिराज ध्यान मग्न विराजमान थे। मुनिराज को देखकर उन पर भक्तिभाव आने के बदले पूर्वभव के संस्कारवश

उसे क्रोध आया और धनुष पर बाण चढ़ाकर मुनिराज की ओर चल दिया...मुनिराज का शरीर विंध गया।

अरे रे ! क्रोध कितना नीच है ! कहाँ जीव का उपशांत और कहाँ क्रोध ! क्रोधान्ध जीव उन भगवान सदृश मुनिराज को नहीं पहचान सका और ध्यान में स्थिर उन अहिंसक मुनिराज की अकारण हिंसा करके उस जीव ने तीव्र अनन्तानुबंधी क्रोध से सातवें नरक की आयु का बंध किया। उसे कहाँ खबर थी कि क्रोध के फल में इतने भयंकर दुःख भोगने पड़ेंगे।

और इधर, शरीर विंध जाने पर भी मुनिराज तो अपने आत्म स्वभाव में निश्चल है, उनके ध्यान में कोई शत्रु या मित्र नहीं है, राग या द्वेष नहीं है। कोई पूजे या कोई बाण मारे-दोनों के प्रति उन्हें समभाव है, जीवन और मरण में भी समभाव है, उनको शरीर का ममत्व नहीं है, आत्मा के आनन्द में इतने लीन है कि शरीर छिदने पर भी उसका दुःख नहीं है, मोह हो तो दुःख हो न? निर्मोही को दुःख कैसा? वे तो निर्मोह रूप से धर्मध्यान में ही एकाग्र है। बाण मारने वाले भील पर भी उन्हें क्रोध नहीं होता। वाह रे वाह ! धन्य है क्षमा के भण्डार उन मुनिराज को ! समाधिपूर्वक शरीर त्यागकर वे मध्यम त्रैवेयक में अहमिन्द्र हुए।

प्रिय पाठको ! तुम भी उस भील पर क्रोध नहीं करना, किन्तु क्षमा के भण्डार ऐसे मुनिराज से उत्तम क्षमा का पाठ पढ़ना। क्रूर भील का जीव भी अन्त में तो धर्म प्राप्त करने वाला है।

वह भील का जीव अपने महापाप का फल भोगने के लिए सातवें नरक में गया। रौद्रध्यान से मुनिराज की हत्या करने से वह घोर नरक में जा गिरा और वहाँ भयंकर दुख सहन किये। संसार में परिभ्रमण करते हुए जीव ने अज्ञानदशा में ऐसे भाव अनन्तबार किये हैं, वह जीव भी क्षणमात्र में अपने भावों में परिवर्तन करके अपना हित साध सकता है। वर्तमान का वह पापी जीव भी क्षणभर में पलटकर कैसे आत्मा का उद्धार करता है वह आप कुछ ही समय पश्चात पढ़ेंगे और तब उसी जीव के प्रति आपको प्रेम उत्पन्न होगा।

त्रैवेयक में अहमिन्द्र और सातवें नरक में नारकी

त्रैवेयक में उत्पन्न हुए उन अहमिन्द्र की आयु 27 सागरोपम जितने असंख्य वर्ष की थी, और सातवें नरक में उत्पन्न हुए उस कमठ के जीव की आयु भी 27 सागरोपम थी। और यहाँ से निकलकर दोनों जीव मनुष्यलोक में फिर मिलेंगे। स्वर्गलोक का

आश्चर्यजनक वैभव देखकर वे अहमिन्द्र विचार में पड़ गये और उनको अवधिज्ञान प्रगट हुआ, उन्होंने अपना पूर्वभव जान लिया, इससे धर्म की अतिशय महिमा आयी अहो ! वह मुनिदशा धन्य थी वह चारित्रवृक्ष तो मोक्षफल देने वाला था, परन्तु मेरी वीतराग चारित्रदशा पूर्ण नहीं हुई और किंचित राग शेष रह गया जिससे इस स्वर्गलोक में अवतार हुआ है। यहाँ भी जैनधर्म की उपासना मेरा कर्तव्य है। ऐसा विचारकर



वहाँ देवलोक के जिनालय में विराजमान शाश्वत रत्नमय जिनप्रतिमा की अत्यन्त भक्ति सहित पूजा की। स्वर्गलोक के कल्पवृक्षों से पूजन सामग्री ली। उस स्वर्गलोक की ऋद्धि अलौकिक थी। वहाँ असंख्यात सम्यग्दृष्टि देव थे, उनमें से कितने ही देव आगामी भव में ही तीर्थकर होने वाले थे और कितने ही मोक्ष प्राप्त करने वाले थे। ऐसे धर्मात्मा साधर्मी देवों के साथ आनन्दपूर्वक असंख्य वर्ष तक धर्मचर्चा की और मुनिपने की भावना भायी।

इधर, उनके साथ सात भव से सम्बन्धित कमठ के जीव ने नरक में 27 सागर तक अपरम्पार वेदनाएँ सहन कीं। जब वह भील था और उसने बाण चलाकर मुनिराज का घात किया, पश्चात् कुछ ही काल में उस भील को भी किसी ने मार डाला और क्रूर परिणामों से रौद्रध्यान द्वारा मरकर वह सातवें नरक में उत्पन्न हुआ। उपजते ही औंधे सिर भालों जैसी भूमि पर गिरा और तीव्र वेदना सहित पाँच सौ योजन ऊपर उछलकर फिर उसी भूमि पर गिरा और फिर उछला। इसप्रकार बारम्बार होने से उसका शरीर छिन्न भिन्न हो गया और भयंकर वेदना हुई। अत्यन्त भयभीत होकर मूढ़ की भाँति चारों और ताकने लगा अरे, यह सब क्या है? क्या करूँ? किसकी शरण लूँ? अरेरे! पूर्वभव के महापाप से मैं इस नरक में आ पड़ा हूँ। यहाँ कि दुर्गन्ध तो सहन नहीं होती, और अति भीषण ठंड से शरीर गल जाता है। इस नरक कुएँ से मैं कब निकलूँगा? इसप्रकार अत्यन्त दुख से विलाप करता है, परन्तु वहाँ कौन उसका विलाप सुने? कौन उसपर दया करे? उलटे दूसरे नारकी घातक बनकर उसे मारते हैं। भूखे-प्यासे उस जीव को अंसख्य वर्ष तक खाने का अन्न या पीने को पानी नहीं मिलता। दुःख के मारे उसे कुछ सूझता ही नहीं है, कहीं चैन नहीं पड़ता। धर्म का सेवन तो किया नहीं है। धर्मात्मा की विराधना करके मात्र पाप का ही सेवन किया है, फिर उसे चैन कहाँ से हो? जो निर्दय होकर जीव हिंसा करें, मांस भक्षण करें, ऐसे जीव नरक में अति भयंकर दुख भोगते हैं, वहाँ एक क्षण भी सुख नहीं है। हिंसादि में सुख माननेवाले जीव राई जितने इन्द्रिय सुख के लिए मेरूपर्वत समान दुःख को आमंत्रित करते हैं। इसप्रकार उस पापी जीव न अंसख्यात वर्ष तक सातवें नरक के महान दुःख भोगे।

आनन्दकुमार और सिंह

अहमिन्द्र स्वर्ग से निकलकर मरुभूमि का जीव (पार्श्वनाथ भगवान का जीव) तो अयोध्यानगरी में आनन्दकुमार के रूप में अवतरित हुआ और कमठ का जीव नरक से निकलकर क्रूर सिंह हुआ।

ऋषभदेव आदि पाँच तीर्थंकर भगवन्तों के अवतार से पावन हुई अयोध्यापुरी में राजा वज्रबाहु थे, उनकी रानी प्रभावती की कुक्षि से आनन्दकुमार का अवतार हुआ। आनन्दकुमार स्वयं आत्मानन्द का अनुभव करते थे और दूसरों को भी आनन्द देते थे। बड़े होने पर वे महामाण्डलिक राजा हुए, आठ हजार राजा उनके अधिकार में थे। इतने महान राजा होने पर भी वे धर्म को नहीं भूलते थे। वे धर्मात्माओं का सन्मान तथा विद्वानों का आदर करते थे। उनके शासन में अयोध्या की प्रजा सर्व प्रकार से सुखी थी।

फाल्गुन मास में बसन्त ऋतु आयी, और उद्यान सुन्दर पुष्पों से खिल उठे। धर्मात्माओं के अंतर के उद्यान भी श्रद्धा-ज्ञान एवं आनन्द के पुष्पों से खिल उठे। आनन्द महाराजा राजसभा में बैठे हैं और धर्मचर्चा द्वारा सबको आनन्दित कर रहे हैं। इतने में मंत्री ने आकर कहा— हे महाराज ! कल से अष्टान्हिका पर्व प्रारम्भ हो रहा है, इसलिये आठ दिन (फाल्गुन शुक्ला अष्टमी से पूर्णिमा) तक जिन मंदिर में नन्दीश्वर-पूजा का आयोजन किया है, आप भी इस उत्सव में पधारकर नन्दीश्वर-जिनालयों की पूजा करें।

मंत्री की बात सुनकर राजा अति आनन्दित हुए और कहा—अहा, वीतराग जिनेश्वर की पूजा का यह अवसर तो बड़े भाग्य से प्राप्त होता है। राज्यभर में धूमधाम से यह उत्सव मनाओ। पूजा रचाओ, धर्म चर्चा करो, दान दो, और जिनेन्द्र भगवान के गुणों का चिन्तन करके जैनधर्म की खूब प्रभावना करो।

अष्टान्हिका पर्व का मंगल उत्सव चल रहा था उन्हीं दिनों विपुलमति नाम के एक मुनिराज जिनमंदिर में आये। वाह ! एक तो भगवान की पूजा का उत्सव और उसी में मुनिराज का आगमन इससे सारे नगर में हर्ष छा गया। राजा एवं प्रजा सबने भक्तिभाव सहित मुनिराज के दर्शन किये।

वीतरागी मुनिराज ने कहा—हे भव्यजीवों ! यह आत्मा ही स्वयं ज्ञान एवं सुखरूप है, इसे पहिचानो ! सम्पूर्ण जगत में घूम-फिरकर देखा, परन्तु आत्मा के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र सुख दिखायी नहीं दिया। आत्मा का सुख आत्मा में ही है, वह बाहर ढूँढ़ने से नहीं मिलेगा। आत्मा को जानने से ही आत्मसुख की

प्राप्ति होती है। राग द्वारा भी वह सुख प्राप्त नहीं होता। जिनशासन में अरिहंत भगवान ने ऐसा कहा कि पूजा व्रतादि के शुभराग से पुण्यबंध होता है और मोह रहित जो वीतरागभाव है वह धर्म है, उसके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

पुनश्च, मुनिराज ने कहा— इस समय नन्दीश्वर जिनालयों की पूजा का उत्सव अष्टान्हिका पर्व चल रहा है, उस नन्दीश्वरद्वीप में बावन शाश्वत जिनालय हैं और उनमें 5616 वीतरागी जिनबिम्ब विराजमान हैं। वे जिनबिम्ब आत्मा के शुद्धस्वरूप का प्रतिबिम्ब हैं। जिसप्रकार दर्पण पर देखने से अपनी मुखाकृति दिखाई देती है, उसी प्रकार वीतरागी जिनबिम्ब के दर्शन से आत्मा का शुद्धस्वरूप जो अरहंत जैसा है वह लक्ष्य में आता है और आत्मा का शुद्धस्वरूप लक्ष्य में आने पर मोह का नाश होकर सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है। उस नन्दीश्वर द्वीप में मनुष्य नहीं जा सकते, वहाँ देव ही जाते हैं और रत्नमय शाश्वत जिनबिम्ब को देखकर अनेकों देव आश्चर्य से चैतन्य की महिमा में लीन होकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं। जिसप्रकार आत्मा का शुद्ध स्वभाव शाश्वत अनादि का है, उसीप्रकार उसके प्रतिबिम्ब रूप में वे वीतराग जिन प्रतिमाएँ भी शाश्वत अनादि की हैं। वे प्रतिमाएँ ऐसी आश्चर्यकारी हैं मानो साक्षात् तीर्थकर भगवान ही विराज रहे हों! मानो अभी मुख से दिव्यध्वनि खिरने लगेगी। वीतरागता का परमतेज उनकी मुद्रापर झलक रहा है, जिसे देखकर आत्मा के सर्वज्ञस्वभाव का स्मरण होता है। अहा! चैतन्य के अनन्त गुणमानों मूर्त होकर झलकते हों ऐसी अद्भुत उन रत्नप्रतिमाओं की छबि है! वे भले अचेतन हों, किन्तु चैतन्यगुणों के स्मरण का निमित्त है। वे मूक जिन प्रतिमाएँ ऐसा उपदेश देती हैं कि संकल्प-त्रिकल्प छोड़कर तुम अपने स्वरूप में स्थिर होओ। हे चेतन! तू जिन प्रतिमा बन! जिस स्वरूप में प्रभु का ध्यान करोगे उसी स्वरूप तुम होगे। जिस प्रकार चिन्तामणि के चिन्तन द्वारा इच्छित वस्तु की प्राप्ति होती है। अरे, जिसे जिनदेव के प्रति भक्ति नहीं है वह तो संसार समुद्र के बीच विषय कषाय रूपी मगर के मुख में ही पड़े हैं। प्रतिदिन जिनेन्द्र देव के दर्शन करके जिनभावना भाना वह प्रत्येक श्रावक का कर्तव्य है।

मुनिराज के मुख से जिन दर्शन की महिमा सुनकर सबको अति हर्ष हुआ और अंतर में अरिहंत देव के गुणों का तथा आत्मा के शुद्धस्वरूप का विचार करने लगे। तत्पश्चात् मुनिराज आहार के समय नगर में पधारे और आनन्द राजा ने नवधा भक्तिपूर्वक उन्हें आहारदान दिया। आहार के पश्चात् मुनिराज ने कहा— हे राजन् ! अब आपके दो ही भव शेष हैं। इस भव में तीर्थकर प्रकृति बांधकर आगामी दूसरे भव में आप भरत क्षेत्र में 23वें तीर्थकर होंगे और सम्मेदशिखर से मोक्ष को प्राप्त करोगे। यह सुनकर राजा आनन्द अति आनन्दित हुए। उनका नाम भी 'आनन्द' था, और भाव से भी वे आनन्दित थे।

पश्चात् मुनिराज ने उपदेश में तीन लोक के जिनबिम्बों का भी वर्णन किया था। सूर्यविमान में प्रभु का शाश्वत जिनबिम्ब है और ज्योतिषी देव उसकी

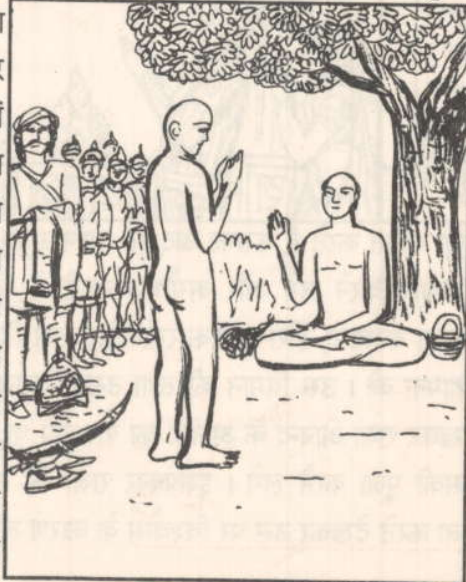


पूजा भक्ति करते हैं, उसका अद्भुत वर्णन सुनकर राजा अपने महल में से उन्हें नमस्कार करने लगे और अयोध्या नगरी में भी सूर्यविमान जैसा एक सुन्दर विमान बनवाया, हीरा-माणिक्य-रत्नजडित उस विमान में सुन्दर जिन प्रतिमा की स्थापना की। उस विमान की तथा उसमें विराजमान प्रतिमा की अद्भुत शोभा देखकर राजा आनन्द के आनन्द का पार नहीं था, वे प्रतिदिन प्रातः एवं सायंकाल उसकी पूजा करने लगे। इसप्रकार राजा को सूर्यविमान स्थित जिनबिम्ब की पूजा करते देखकर उस पर विश्वास के कारण लोग भी सूर्य विमान को नमस्कार

करने लगे। राजा तो सूर्यविमान में विराजमान जिनबिम्ब को नमस्कार करते थे, परन्तु बाह्य दृष्टि जीव निश्चय को जाने बिना व्यवहार को भजने लगते हैं, तदनुसार अन्यमतावलम्बी लोग भी जिनबिम्ब के बदले सूर्यबिम्ब को पूजने लगे।

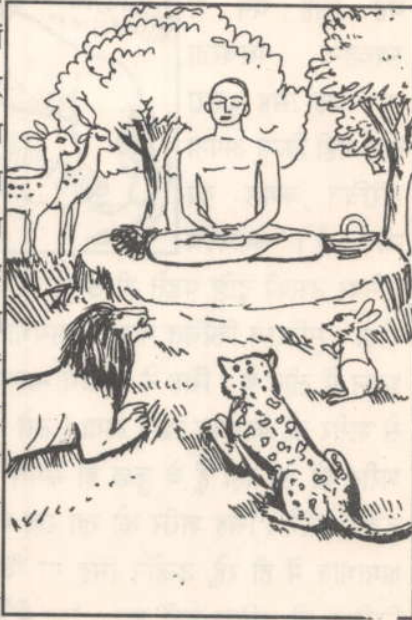
आनन्द महाराजा अनेक प्रकार से धर्मध्यान कर रहे हैं। उन्हें विश्वास है कि जिन सदृश अपने आत्मा का चिन्तन करके मैं भी जिन हो जाऊँगा। ऐसी भावना सहित अनेक वर्ष बीत गये। एक दिन राजा ने अपने सिर में श्वेत बाल देखा, और तुरन्त ही उनका हृदय वैराग्यमय हो उठा। अरे, यह श्वेत बाल मृत्यु का सन्देश लेकर आया है। हे जीव ! अब शीघ्र ही चारित्रदशा को धारण करके आत्मकल्याण कर। इसलिये अब मुझे आत्मकल्याण में क्षणभर का भी विलम्ब नहीं करना चाहिए। मैं आज ही यह सर्व सांसारिक परिग्रह छोड़कर शुद्धोपयोगी मुनि बनूँगा और उपयोग स्वरूप अपने आत्मा में एकाग्र होकर चारित्र दशा प्रगट करूँगा। ऐसे दृढ़ निश्चयपूर्वक वे आनन्द महाराजा बारह वैराग्य भावनाओं का चिन्तन करने लगे और सागरदत्त मुनि के समीप मुनिदीक्षा ग्रहण की। मुनि

होकर शुद्धोपयोग द्वारा आत्मध्यान में एकाग्र हुए और अतीन्द्रिय आनन्द के सागर में निमग्न हो गये। अहा ! उनका आत्मा रत्नत्रय के तेज से दीप्तिमान हो उठा ! उनकी वीतरागता आश्चर्य उत्पन्न करती थी। ऐसी उत्तम आराधना सहित स्वाध्याय में एकाग्रता से उन आनन्द मुनिराज को बारह अंग का ज्ञान उदित हुआ, श्रुतज्ञान का पवित्र सागर उमड़ने लगा, अन्य



अनेक ऋद्धियाँ भी उनके प्रकट हुई, परन्तु उनका लक्ष्य तो चैतन्यऋद्धि पर ही था। आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान का तो उनके अभाव था, वे तो धर्मध्यान में एकाग्र रहते थे और कभी-कभी शुक्लध्यान भी ध्याते थे। ध्यान के समय वे अपने एक शुद्धात्मा में ही उपयोग को एकाग्र करके निर्विकल्प आनन्द का अनुभव करते थे, और अन्य चिन्ताएँ अपने आप अटक जाती थीं। अहा, उनकी शांत मुद्रा देखकर वन के पशु भी आश्चर्यचकित हो जाते थे। सर्वप्रकार के परिषहों को सहन करते हुए वे आनन्द-मुनिराज आत्मशुद्धि में वृद्धि कर रहे थे और उनके कर्मों की निर्जरा हो रही थी। अहा, ऐसा वीतरागी मुनि जीवन धन्य है ! उनके चरणों में हमारा मस्तक झुक जाता है।

वे मुनिराज बारम्बार शुद्धोपयोगरूपी जल द्वारा चारित्रवृक्ष का सिंचन करते थे। वे चारित्र के महान कल्पवृक्ष थे और उस कल्पवृक्ष में मानो उत्तम फल लगे हों तदनुसार उत्तम क्षमादि दस धर्म उनके विकसित हो चुके थे। ऐसे मुनिराज ने दर्शन विशुद्धि से लेकर रत्नत्रयधर्म के प्रति परम वात्सल्य तक की सोलह भावनाओं द्वारा तीर्थकर प्रकृति का बंध किया। सर्व तीर्थकर पूर्वभव में ऐसी उत्तम भावनाएँ भाते हैं एक ओर पुण्य का रस बढ़ रहा था तो दूसरी ओर चैतन्य-अनुभव द्वारा वीतरागी शांतरस में भी वृद्धि होती जा रही थी। शिवपुर पहुँचने में अब मात्र एक ही भव बीच में शेष बचा था।



वे मुनिराज एक बार वन में निष्कंप रूप से ध्यान मग्न थे...बाह्य लक्ष्य छोड़कर निजस्वरूप के अवलोकन में एकाग्र थे। उनके सर्वप्रदेशों में अपूर्व आनन्दरस की फुहारें फूट रही थीं कि इतने में गर्जना करता हुआ एक सिंह वहाँ आ पहुँचा।

उसकी भीषण गर्जना से सारा वन काँप उठा, वन के पशु-पक्षी भयभीत होकर इधर उधर भागने लगे। छलाँगें मारता हुआ वह सिंह वन में स्वच्छन्द विचरता था। वह सिंह दूसरा कोई नहीं किन्तु अपना परिचित कमठ का जीव है। ध्यानस्थ



मुनिपर उसकी दृष्टि पड़ते ही उसने क्रोध से गर्जना की और मुनिराज की ओर दौड़ा। मुनिराज किंचित मात्र भी भयभीत नहीं हुए, वे तो निर्भय रूप से अपने ध्यान में लीन थे। सिंह ने छलाँग मारकर उनका गला दबोच लिया और पंजों से शरीर को फाड़कर खाने लगा ! उसे कहाँ खबर थी कि मैं इस समय जिनके शरीर को खा रहा हूँ वे कुछ ही समय पश्चात् मेरे गुरु बनकर मेरा संसार से उद्धार करेंगे। सिंह शरीर को खा रहा था उस समय मुनिराज तो अपने उत्कृष्ट क्षमाभाव में ही रहे, उन्होंने सिंह पर किंचित् क्रोध नहीं किया वीतरागमार्ग से निजिन् भी चलित नहीं हुए ! महान्य मुनिराज ! क्रोध आराधना की अखण्डता सहित प्राणोत्सर्ग करके वे आनत स्वर्ग में इन्द्र हुए। सिंह भी क्रूर परिणामों से मरकर पुनः नरक में जा गिरा।

आनन्द मुनि स्वर्ग में, सिंह नरक में

ऊर्ध्वलोक के 16 स्वर्गों में से 13वाँ आनत स्वर्ग है, वहाँ अनेक कल्पवृक्ष एवं चिन्तामणि रत्न भी सुलभ हैं। परन्तु शास्त्रकार कहते हैं कि कल्पवृक्ष के निकट तो फल की याचना करना पड़ती है और चिन्तामणि के निकट भी चिंतवन करना पड़ता है, तब वे इच्छित वस्तु देते हैं, परन्तु वीतराग धर्म तो ऐसा है कि बिना इच्छा के भी उत्तम फल प्रदान करता है, इसलिये वह धर्म ही श्रेष्ठ है। आनत स्वर्ग में उत्पन्न हुए अपने कथा नायक पार्श्वप्रभु का यह का स्वर्ग का अन्तिम भव है अगले भव में तो वे भगवान होंगे। भोगोपभोग के बीच वे जानते थे कि इन भोगों की इच्छा तो अग्निसमान है, विषरूपी ईंधन से वह कभी शांत नहीं होगी, वह तो चारित्र जल से ही बुझ सकती है...परन्तु इस स्वर्गलोक में चारित्रदशा है ही नहीं, वह तो मनुष्य भव में ही होती है, इसलिये अब मनुष्य भव पाकर हम अपनी चारित्रदशा पूर्ण करेंगे और पुनः इस संसार चक्र में नहीं फंसेंगे। इसप्रकार चारित्रदशा की भावनापूर्वक सम्यक्त्व की आराधना सहित वे असंख्य वर्ष तक स्वर्गलोक में रहे। वे बारम्बार जिनभक्ति का उत्सव करते और देवों की सभा में उत्तम धर्मोपदेश देते। उनके उपदेश से स्वर्ग के कितने ही देवों ने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया।

उन इन्द्र की आयु में जब छह मास शेष रहे और वाराणसी नगरी (काशी-बनारस) में पार्श्वनाथ की तीर्थकररूप में अवतरित होने की तैयारी हुई, तब बनारस नगरी में क्या हुआ? वह देखने के लिए चलो हम उस नगरी में पहुँच जायें और पार्श्वप्रभु के जन्मोत्सव में आनन्दपूर्वक सम्मिलित हों।

वाराणसी नगरी में पार्श्वकुमार का जन्म

जिस समय की यह कथा है, उस समय इस भरतक्षेत्र में चौथा काल पूर्ण होने आया था, बाईस तीर्थकर मोक्ष पधार चुके थे। नेमिनाथ भगवान गिरनार से मोक्ष पधारे, उसे भी 83750 वर्ष बीत चुके थे। अयोध्या से थोड़े कोस की दूरी पर काशी देश में गंगानदी के किनारे वाराणसी (बनारस) नगरी अति समृद्ध एवं शोभायमान थी। इसी नगरी में सातवें तीर्थकर सुपार्श्वनाथ अवतरित हो

चुके थे। अब तो तेईसवें तीर्थकर पार्श्वनाथ प्रभु के अवतरण का समय आ चुका था। जहाँ तीर्थकर अवतरित होने वाले थे ऐसी वाराणसी नगरी की शोभा का क्या कहना। राजभवन के प्रांगण में प्रतिदिन आकाश से करोड़ों रत्नों की वर्षा होने लगी पन्द्रह मास तक वह रत्नवृष्टि होती रही नगरवासी समझ गये थे कि यह किसी महामंगल अवसर के चिन्ह हैं।

विश्वप्रसिद्ध ऐसे बनारस तीर्थ में उस समय महाभाग्यवान् राजा अश्वसेन राज्य करते थे। (कोई उन्हें विश्वसेन भी कहते हैं) वे अति गंभीर थे सम्यग्दर्शि थे। अवधिज्ञान के धारी तथा वीतराग देव-गुरु के परम भक्त थे। उनकी महारानी वामा देवी (ब्रह्मदत्ता अथवा ब्रह्मीदेवी) भी अनेक गुणसम्पन्न थीं। उन दोनों का आत्मा तो मिथ्यात्वमल से रहित था ही, किन्तु उनका शरीर भी मलमूत्र रहित था। अहा! जहाँ तीर्थकर समान पवित्र आत्मा का निवास होने वाला हो वहाँ मलिनता कैसे रह सकती है? सिद्धान्त में कहा है कि तीर्थकर को उनके माता-पिता, चक्रवर्ती को बलदेव-वासुदेव-प्रतिवासुदेव को तथा जुगलिया को मल मूत्र नहीं होते।

एक बार महारानी वामादेवी पंचपरमेष्ठी भगवन्तों के स्मरणपूर्वक निद्राधीन थीं, वैशाख कृष्णा द्वितीया का दिन था, तब उन्होंने रात्रि के पिछले प्रहर में 16 मंगल स्वप्न देखे:-

सुर कुंजर सम कुंजर, धवल धुरन्धरो,
 केहरि- केशरशोभित, नख सिख सुन्दरो।
 कमला कलश- न्हवन, दुई दाम सुहावनी,
 रवि- शशि मंडल मधुर, मीन जुग पावनी ॥
 पावन कनकघट जुगम पूरन, कमल-कलित सरोवरो,
 कल्लोल माला कुलित सागर, सिंह पीठ मनोहरो।
 रमणीक अमर विमान फणपति-भुवन रवि छवि छाजई,
 रुचि रतनराशी दिपंत, दहनसु तेजपूज विराजई ॥

ऐसे महामंगलकारी स्वप्न देखे और उसी समय ब्रह्मदत्ता (वामादेवी) माता की कुक्षि में पार्श्वनाथ भगवान् के जीव का आगमन हुआ। माता का हृदय आनन्द से भर गया। प्रभात होते ही राजसभा में जाकर माताजी ने महाराज

विश्वसेन से सोलह स्वप्नों की बात कही, और उनके फल स्वरूप तीर्थकर समान पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी-ऐसा महाराज के मुख से सुनकर उनके हृदय का पार नहीं रहा ! मानो हृदयभूमि में धर्म के अंकुर फूट पड़े ! वाह माता, तू अन्य हो गई ! इन्द्रों तथा इन्द्रानियों ने आकर प्रभु के माता-पिता का सम्मान किया और गर्भकल्याणक उत्सव करके भगवान की पूजा स्तुति की । छप्पन कुमारी देवियाँ माता की सेवा करने लगीं । वे बारम्बार तीर्थकर के गुणगान करके माताजी के साथ आनन्ददायक चर्चा करती थीं-

एक बार माताजीने पूछा— हे देवी ! इस जगत में उत्तम रत्न कहाँ रहता होगा ?

देवी ने कहा— माताजी, आपके उदर- भण्डार में ही वह उत्तम रत्न विद्यमान है ।

दूसरी देवी ने पूछा— माताजी का शरीर सुवर्ण जैसा क्यों लगता है ?

तीसरी देवी बोली— क्योंकि उनको पारस का स्पर्श हुआ है इसलिये ।

चौथी देवी ने पूछा— माताजी, आपको कैसी भावना होती है ?

माताजी बोलीं— जैनधर्म का खूब विस्तार हो ऐसी भावना होती है ।



देवियाँ कहने लगीं वाह माताजी ! अपने स्वर्गलोक से भी हमें यहाँ अच्छा लगता है, क्योंकि यहाँ हमें आपकी तथा बाल तीर्थकर की सेवा करने का महाभाग्य प्राप्त हुआ है । छोटेसे प्रभु को हम पालने में झुलायेंगे, लोरियाँ गायेंगे, और हँसी-खुशी गोद में उठायेंगे, और उन्हें देख-देखकर आत्मा का धर्म प्राप्त करेंगे ।

इस प्रकार देवियों माताजी के साथ आनन्दकारी चर्चा करती थीं, और तीर्थकर प्रभु की महिमा गाती थीं। माताजी के मुख से ऐसी आत्मस्पर्शी वाणी निकलती थी मानो उनकी कुक्षि में बैठे पार्श्वनाथ भगवान ही बोल रहे हों ! गर्भस्थ ज्ञानवन्त भगवान उस समय भी जानते थे कि मेरा चैतन्यतत्त्व इस शरीर के संयोग से बिलकुल भिन्न है, चेतनामय भाव ही मैं हूँ। इसप्रकार भगवान तो अपनी चेतना के आनन्द में डूल रहे थे। दिन पर दिन बीतते गये पौष कृष्णा एकादशी आयी, और मंगल बधाई लायी।

पौष कृष्णा एकादशी के शुभदिन तैँसवें तीर्थकर का अवतार हुआ। बनारस नगरी में चारों ओर आनन्द छा गया, मात्र बनारस में ही नहीं किन्तु तीनों लोक आनन्दित हो गये। स्वर्ग में भी अपने आप दिव्य वाद्य बजने लगे। इन्द्र ने जान लिया कि भरतक्षेत्र में तैँसवें तीर्थकर का अवतार हुआ है, इसलिये तुरन्त इन्द्रासन से नीचे उतरकर भक्तिपूर्वक उन बाल तीर्थकर को नमस्कार किया और ऐरावत हाथी पर बैठकर जन्मोत्सव मनाने आ पहुँचे। छोटे से भगवान को विशाल ऐरावत हाथी पर बैठाया हाथी आकाश में उड़ा और भगवान की शोभायात्रा मेरुपर्वत पर आ पहुँची। यह जो सूर्य-चन्द्र दिखते हैं इनसे भी अधिक ऊँचाई वाले मेरुपर्वत पर प्रभु का जन्माभिषेक किया। उस समय प्रभु की दिव्य महिमा देखकर अनेक देवों को सम्यग्दर्शन हो गया। अहा प्रभु ! आप तो जन्मरहित हो गये और आपकी भक्ति से हमारा भी जन्म सफल हो गया। इस प्रकार स्तुति करते-करते इन्द्र-इन्द्राणी भी आनन्द से नाच उठे। उन्होंने प्रभु का नाम 'पार्श्वकुमार' रखा।

प्रभु के जन्माभिषेक के समय आकाश से पुष्पवृष्टि होने लगी। आश्चर्य यह है कि आकाश में कहीं भी पुष्पवृक्ष न होने पर भी पुष्प वर्षा हो रही थी। अनन्त आकाश को ऐसा लगा कि अहा, इन भगवान का ज्ञान तो मुझसे भी विशाल है इसलिये नम्रीभूत होकर वह आकाश पुष्पवर्षा द्वारा प्रभु की पूजा कर रहा था। तथा जिसप्रकार मैं निरालम्ब हूँ उसीप्रकार भगवान का ज्ञान भी

निरालम्बी है-ऐसे निरालम्बनता के आनन्द से उल्लसित होकर वह आकाश पुष्पवृष्टि द्वारा प्रभु का जन्मोत्सव मना रहा था ।

मेरुपर्वत पर पार्श्वकुमार का जन्माभिषेक करके स्तुति करते हुए इन्द्र कहते हैं— हे प्रभो ! आप तो पवित्र ही हो, आपका न्हवन करने के बहाने वास्तव में तो हमने अपने ही पापों को धो डाला है । इन्द्रानी कहती हैं- हे प्रभो ! आपको गोद में लेकर मानों मैं मोक्ष को ही अपनी गोद में ले रही हूँ इसप्रकार मेरी आत्मा उल्लसित हो जाती है...और आपको रत्नाभूषणों से अलंकृत करते हुए ऐसा अनुभव होता है मानों मैं अपने ही आत्मा को धर्मरत्नों से अलंकृत कर रही हूँ-ऐसा कहकर इन्द्रानी ने बाल तीर्थंकर को स्वर्ग से लाये हुए वस्त्राभूषण पहिनाए और रत्न का तिलक लगाया । इसप्रकार पार्श्वकुमार का जन्माभिषेक करके तथा देवलोक के दिव्य वस्त्राभूषण पहिनाकर प्रभु के जन्मोत्सव की शोभायात्रा बनारस नगरी लौट आयी और वामादेवी माता को उनका लाड़ला पुत्र सौंपकर इन्द्र-इन्द्रानी ने कहा— हे माता ! आप धन्य हैं आप जगत की माता हैं । आपने जगत को यह ज्ञानप्रकाशक दीपक प्रदान किया है, हे माता आपका यह पुत्र तीन लोक का नाथ है ।

वाराणसी नगरी में सर्वत्र आनन्दोत्सव मनाया गया । तीर्थंकर की आत्मा को देखकर हजारों लोग चैतन्यमहिमा समझ-समझकर आत्मज्ञान को प्राप्त हुए । अहा, भगवान स्वयं केवलज्ञान प्राप्त करके धर्मोपदेश देंगे और धर्मवृद्धि करेंगे, उस समय का क्या कहना । परन्तु उनका जन्म होते ही जीवों में स्वयमेव धर्मवृद्धि होने लगी । जिसप्रकार सूर्योदय होने पर कमल खिलने लगते हैं उसीप्रकार तीर्थंकर सूर्य का उदय हुआ और भव्यजनरूपी कमल खिलने लगे । जन्मोत्सव के हर्षोल्लास में देवों ने माता-पिता के समक्ष सुन्दर नाटक करके भगवान के पूर्व नौ भव बतलाये, उनमें हाथी के भव में मुनि के उपदेश से सम्यक्त्व प्राप्ति का दृश्य देखकर तो अनेक जीवों ने प्रतिबोध प्राप्त किया और पश्चात् उन्होंने मुनिदीक्षा धारण करके उत्तम क्षमा का कैसा पालन किया वह भी बतलाया ।

इसप्रकार पारसकुमार का जन्मोत्सव मनाकर माता-पिता को उत्तमोत्तम वस्तुओं की भेंट देकर वे इन्द्र-इन्द्रानी देवों सहित अपने स्वर्गलोक में चले गये। उस समय तो स्वर्ग की अपेक्षा वाराणसी नगरी का वैभव विशेष लग रहा था, क्योंकि तीर्थंकर समान पुण्यात्मा वहाँ विराज रहे थे। स्वर्ग के देव भी छोट-छोटे बालकों का रूप धारण करके पार्श्वकुमार के साथ क्रीड़ा करने आते थे। अहा ! तीर्थंकर का सहवास किसे अच्छा नहीं लगेगा ? उन देव कुमारों के साथ पार्श्वकुमार भिन्न-भिन्न प्रकार के खेल खेलते थे और कभी-कभी धर्म की चर्चा करके आत्मानुभव का रहस्य भी समझाते थे। अहा ! उन छोटे से भगवान के श्रीमुख से जब आत्मा के अनुभव की धारा प्रवाहित होती होगी तब वह वाणी सुनकर लोग कितने आनन्दित होते होंगे ? उनकी मुद्रा के दिव्य शांतभाव मुमुक्षु को अतीन्द्रिय आत्मसुख की प्रतीति उपजाते थे। केवलज्ञान होने पर तो क्या कहना ! परन्तु तीर्थंकर प्रकृति का उदय आने से पूर्व भी उनके निमित्त से धर्मवृद्धि होने लगी धन्य है अवतार !

भगवान को जन्म से ही मति-श्रुत-अवधि तीन ज्ञान और क्षायिक सम्यग्दर्शन था, उनका स्वभाव अति सौम्य था। आठ वर्ष की आयु होने पर वे पाँच अणुव्रत का पालन करने लगे। किसी के पास विद्या सीखना तो उन्हें था ही नहीं, आत्मविद्या को जानने वाले उन भगवान में अन्य सर्व विद्याएँ भी स्वयमेव आ गई थीं, उनकी चैतन्य विद्या में भी वृद्धि हो रही थी।

युवा राजकुमार को देखकर एकबार माता-पिता ने उनसे विवाह का अनुरोध किया और कहा कि किसी सुन्दर, गुणवान राज कन्या के साथ वे विवाह करें, परन्तु पार्श्वकुमार ने अनिच्छा प्रदर्शित की। माताजी ने गद्गद् होकर कहा हे कुमार ! मैं जानती हूँ कि तुम्हारा अवतार वैराग्य हेतु है, तुम तीर्थंकर होने वाले हो, और उससे मैं अपनी कोख को धन्य मानती हूँ, परन्तु पूर्वकाल में ऋषभादि तीर्थंकरों ने भी विवाह करके जिसप्रकार माता-पिता की इच्छा पूर्ण की थी, तदनुसार तुम भी हमारी इच्छा पूर्ण करो।

तब पार्श्वकुमार गंभीरतापूर्वक बोले-हे माता ! ऋषभदेव की बात और थी, मैं प्रत्येक विषय में उनके बराबर नहीं हूँ, उनकी आयु तो बड़ी लम्बी थी और मेरी आयु मात्र सौ वर्ष की है, मुझे तो अल्पकाल में ही संयम धारण करके अपनी आत्मसाधना पूर्ण करना है, इसलिये मुझे सांसारिक बंधनों में पड़ना उचित नहीं है ।

वैरागी राजकुमार की बात सुनकर माता-पिता के नेत्रों में अश्रु झलक आये, कुछ देर तक निराश रहकर अन्त में उन्होंने समाधान कर लिया । वे भी सुविज्ञ थे, उन्होंने विचार किया कि पार्श्वकुमार तो तीर्थंकर बनने को अवतरित हुए हैं । सांसारिक भोगों के लिए उनका अवतार नहीं है, उनका अवतार तो मोक्ष की साधना के लिये है और हमें भी उसी मार्ग पर जाना है ।

सर्प युगल के उद्धार की घटना

एक बार पार्श्वकुमार वनविहार करने निकले । साथ में उनका मित्र सुभोमकुमार भी था । राजकुमार पार्श्वनाथ को देखकर प्रजा अति प्रसन्न होती थी अरे, वन के पशु-पक्षी भी प्रभु को देखकर आश्चर्य में पड़ जाते और शांतचित्त से उन्हें निरखते थे कि-अहा, यह कोई महान पुरुष हैं जिन्हें देखकर हमारा भय दूर हो जाता है और शांति मिलती है । वन के वृक्ष और पुष्प भी प्रभु को देखकर खिल उठते थे । वन की शोभा देखते हुए राजकुमार विचर रहे हैं और विचार कर रहे हैं कि अब मेरा वन विहारी बनने का समय निकट आ गया है । ऐसी उत्तम भावना पूर्वक वन में विचर रहे थे कि इतने में एक घटना हुई— उन्हें एक तापस बाबा दिखायी दिया । कौन है वह



तापस ? वह जानने के लिये हमें उनके पूर्वभवों पर दृष्टिपात करना होगा ।

पार्श्वनाथ भगवान पूर्वभव में जब अग्निवेग मुनि थे तब उनके भाई कमठ का जीव अजगर होकर उन्हें निगल गया था और फिर मरकर नरक में गया था । पश्चात वह कमठ का जीव शिकारी भील हुआ और वज्रनाभि मुनि को बाणों से छेद डाला पश्चात् सिंह होकर आनन्द मुनि को खा गया । वहाँ से पाँचवें नरक में जाकर उसने घोर दुःख सहन किये और तीन सागर तक तिर्य्यचगति में भटकता फिरा । अंत में वही जीव महिपाल नगरी में महिपाल नाम का राजा हुआ । पार्श्वनाथ की माता वामादेवी इसी महिपाल राजा की ही पुत्री थीं, इसलिये पार्श्वकुमार उसके दौहित्र (पुत्री के पुत्र) हुए । महिपाल की रानी का देहान्त होने पर दुःख के कारण वह तापस बन गया, सात सौ तापस उसके



शिष्य थे । वह अज्ञानजन्य कुतप करता था । उस समय अपने सात सौ तापस शिष्यों के साथ उसने वाराणसी नगरी में डेरा डाला था और पंचाग्नि तप कर रहा था, अग्नि में बड़े-बड़े लकड़ जल रहे थे ।

इतने में पार्श्वकुमार अपने मित्रों सहित वन-विहार करते-करते वहाँ आ पहुँचे । उन्होंने महिपाल तापस को देखा । उसे देखकर पार्श्वकुमार ने वंदन-नमस्कार नहीं किया । अरे,

सामान्य श्रावक भी कदापि कुगुरु को नमस्कार नहीं करते, फिर वे तो पार्श्व तीर्थंकर थे, वे कैसे कुगुरु को नमस्कार करते ?

राजकुमार ने आदर नहीं किया, इसलिये महिपाल तापस के मन में क्रोध आ गया । पूर्वभव के क्रोधसंस्कार भड़क उठे । अरे, मैं महान तापस बाबा, और इस राजकुमार का नाना हूँ, फिर भी मुझे यह नमस्कार तक नहीं करता ? इसे

अपने राज्य का अभिमान हो गया है ! परन्तु मैं भी तो इसी जैसा राज्य छोड़कर तापसी बना हूँ, इसप्रकार वह अज्ञानी गुरु मन ही मन क्रोध करने लगा ।

शांत एवं गंभीर भगवान पार्श्वकुमार तो ज्यों के त्यों शांतिपूर्वक खड़े रहे । उनका चित्त अत्यन्त दयालु था, परन्तु मिथ्यागुरु वह तापस बिना विचारे ही क्रोध में आ गया और कहने लगा— मैं महान तपस्वी और इस राजकुमार का नाना हूँ, तथापि यह कुमार मुझे नमस्कार किये बिना अविवेकी की भाँति खड़ा है ।

तब पार्श्वकुमार के मित्र सुभोमकुमार कहने लगे कि — हे बाबाजी ! मैं गुरु हूँ और महान तपस्वी हूँ-ऐसा मानकर आप भारी अभिमान कर रहे हैं, परन्तु आपको खबर नहीं कि मिथ्यात्वसहित किये गये कुतप से और हिंसा से जीव का कितना अहित होता है ? शरीर एवं कषायों से भिन्न आत्मा का अनुभव जब तक न हो, तब तक सच्चा तप नहीं होता । आपके इस अज्ञानमय तप में छहकाय के जीवों की हिंसा होती है, इसलिये यह कुतप है, इसमें आत्मा का किंचित् भी हित नहीं है ।

सुभोमकुमार की बात सुनकर महिपाल को अधिक क्रोध चढ़ा, वह कहने लगा— तू मुझे उपदेश देनेवाला कौन ? यह राजकुमार तो अभी छोटा बच्चा है, इसे मेरे तप का क्या पता ? ऐसा कहकर वह अज्ञानी कुल्हाड़ी द्वारा लक्कड़ फाड़-फाड़कर अग्नि में डालने लगा । एक बड़ा लक्कड़ फाड़कर जब वह अग्नि में डालने लगा कि इतने में—

प्रभु पार्श्वकुमार हाथ उठाकर गंभीर स्वर में बोले— ‘ठहरो ठहरो (उन्होंने अवधिज्ञान से जान लिया था कि इस लक्कड़ में एक सर्पों का जोड़ा बैठा है, वह कुल्हाड़ी से कट गया है और अभी अग्नि में भस्म हो जायेगा ! इसलिये वे दयार्द होकर बोल, उठे कि..ठहरो..) इस लकड़ी को अग्नि में मत डालो !’

अज्ञानी तापस क्रोधित होकर बोला— तू मुझे रोकने वाला कौन ? (उसे कहाँ खबर थी कि इस लकड़ी में नाग-नागिन का जोड़ा बैठा है ।)

भगवान ने कहा—आप जो लकड़ी काटकर अग्नि में होमना चाहते हैं उसमें नाग-नागिन का जोड़ा बैठा है, वे कट गये हैं और अग्नि में जल जायेंगे ऐसी जीव हिंसा मत कीजिये ।

अवधिज्ञानी पार्श्वकुमार की बात सुनकर भी उस तपस्वी को विश्वास नहीं हुआ, बोला—तू कौन ऐसा त्रिकालज्ञानी हो गया जो तुझे इस लकड़ी में सर्प बैठे दिख रहे हैं ? व्यर्थ ही होम में विघ्न करता है ! तब सुभोमकुमार ने कहा—बाबाजी यह भगवान पार्श्वकुमार अवधिज्ञानी हैं, इनका वचन कभी असत्य नहीं होता । आपको विश्वास न आता हो तो लकड़ी चीरकर देख लीजिये ।

महिपाल तापस ने (जो कि कमठ का जीव है) क्रोधपूर्वक उस लकड़ी को चीरा तो भीतर दो तड़पते हुए सर्प निकले । उनके शरीर के दो टुकड़े हो गये थे और वेदना से तड़प रहे थे । वे दोनों नाग-नागिन पार्श्वप्रभु की ओर टकटकी लगाकर देख रहे थे, मानो दुःख से छुड़ाने की प्रार्थना कर रहे हों ।

सर्पयुगल को देखकर लोग चकित रह गये । चारों ओर हाहाकार हो गया । महिपाल तापस भी क्षणभर स्तब्ध हो गया ।

प्रभु ने सर्पयुगल पर दृष्टि डाली, जिससे दोनों को अत्यन्त शांति का अनुभव हुआ । पार्श्वप्रभु धीरे गंभीर स्वर में बोले— अरे ! जीवों का अज्ञान तो



देखो ! जहाँ ऐसी जीव हिंसा हो वहाँ कभी धर्म नहीं हो सकता है ।’

तापस अभिमानपूर्वक बोला—ठीक है, ठीक है, यह उपदेश कहीं और जाकर देना, तुझे क्या पता कि मैं सातसौ तापसों का गुरु हूँ ।

उसकी अविवेकपूर्ण बात सुनकर सुभोमकुमार कहने लगे अरे, महाराज ! हम न तो आपको गुरु मानते हैं और न आपका तिरस्कार करते हैं, परन्तु आप सर्वज्ञ-वीतराग देव और उनका कहा हुआ वीतराग अहिंसारूप मार्ग छोड़कर, तथा मिथ्यात्व एवं क्रोधादि कषायवश होकर यज्ञ के नाम पर छहकाय के जीवों की हिंसा में प्रवर्त रहे हैं और उस मिथ्यामार्ग द्वारा मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा रखते हो, वह तो मात्र भूसा खांडकर चावल प्राप्त करने की आशा जैसा अज्ञान है, इसलिये हिंसामय अज्ञानमार्ग को छोड़ो और सच्चे ज्ञानमार्ग को ग्रहण करो । आपके प्रति हमें अति स्नेह है, क्योंकि पूर्वभव में आप पार्श्वकुमार के भ्राता थे , इसलिये आपसे यह हित की बात कर रहे हैं । आशा है कि आप शांत चित्त से विचार कर हित की बात को ग्रहण करेंगे और अहितकर अज्ञानमार्ग को त्याग देंगे ।

अहा, कैसा हितकारी उपदेश ! भावी तीर्थंकर की उपस्थिति में ऐसा सुन्दर वीतराग धर्म का उपदेश सुनकर भी उस पापी कमठ के जीव ने सत्य धर्म अंगीकार नहीं किया, अरे, साक्षात् भावी तीर्थंकर सन्मुख खड़े होने पर भी उस कुगुरु का क्रोध शांत नहीं हुआ । जीव स्वयं भावशुद्धि न करे, तो तीर्थंकर भी उसका क्या कर सकते हैं ? यद्यपि गहरे-गहरे उसे आभास तो हो रहा था कि इन उत्तम पुरुषों के समक्ष में कोई भूल कर रहा हूँ, किन्तु क्रोध तथा अज्ञान के कारण वह सच्चे वीतरागधर्म को स्वीकार नहीं कर सका । अभी धर्म की प्राप्ति होने में उसे कुछ समय लगना था । अन्त में तो वह इन्हीं भगवान की शरण में आकर सच्चा धर्म अंगीकार करेगा ।

एक ओर कटे हुए दोनों सर्प तड़प रहे हैं और दूसरी ओर उस सर्प युगल की हिंसा करने वाला कुगुरु खड़ा है तथा उन्हीं के निकट खड़े उनका उद्धार करने वाले जगतगुरु तीर्थंकर वीतराग धर्म का स्वरूप समझा रहे हैं । दोनों सर्पों ने दया मूर्ति भगवान के दर्शन करके शांति प्राप्त की और उनके श्रीमुख से वीतरागधर्म का उपदेश सुनकर धन्य हो गये !

अति गंभीर ऐसे पार्श्वकुमार कहने लगे— हे सर्प राज ! भले ही इस अज्ञानी तपस्वी की कुल्हाड़ी से तुम्हारे शरीर कट गये हैं परन्तु तुम क्रोध नहीं करना, क्योंकि पूर्वभव में क्रोध करने कारण तुम्हें यह सर्प का भव मिला है, किन्तु अब क्रोध का त्याग करके क्षमाभाव धारण करना, और पंचपरमेष्ठी भगवान की शरण लेना। ऐसा कहकर पार्श्वनाथ प्रभु ने उन्हें धर्म श्रवण कराया। दोनों नाग-नागिन अत्यन्त शांतिपूर्वक सुन रहे थे। अहा ! भावी तीर्थकर के दर्शन से तथा उनकी वाणी सुनकर वे अपना कष्ट भूल गये और शांतभाव धारण करके अत्यन्त उपकारबुद्धि से प्रभुसन्मुख देखते रहे। उस सर्प के मुंह से विष के बदले मानो अमृत झर रहा था। अहा, हम जैसे विषैले जीवों को भी प्रभु ने करुणापूर्वक सच्चा धर्म समझाया और हमारा कल्याण किया। धन्य है इन प्रभु को ! ऐसा विचारते हुए वे दोनों सर्प मानो भक्ति से सिर झुका रहे थे और प्रभु के नेत्रों से तो अमृत झरता था। प्रभु के शांतरस झरते वचन सुनकर नाग-नागिन दोनों जीव अत्यन्त शांति को प्राप्त हुए और प्रभु के चरणों में शरीर त्यागकर भवनवासी देवों में धरणेन्द्र देव तथा पद्मावती देवी हुये। अवधिज्ञान से भगवान का उपकार जानकर वे भक्ति करने लगे कि धन्य जिनधर्म ! धन्य पार्श्वप्रभु ! कि जिन्होंने हमें सर्प से देव बनाया और संसार से मुक्त होने के लिये जैनधर्म का मार्ग बतलाया।

देखो तो सही, क्षमावन्त आत्मा के संसर्ग से नाग जैसे विषधर जीव भी क्रोध छोड़कर क्षमावान बन गये, और शरीर के टुकड़े कर देने वाले कुगुरु के प्रति भी क्रोध न करके क्षमाभाव से शरीर त्यागकर देव हुए। धन्य है वीतरागमार्ग की क्षमा को !

ऐसे वीतराग धर्म का श्रवण करके भी दुष्ट कमठ के जीव ने उसको ग्रहण नहीं किया। परन्तु इसने मेरा अपमान किया है, ऐसी मान्यता पूर्वक उलटा क्रोध किया। दोनों सर्प तो धर्म को प्राप्त हुए, परन्तु वह महिपाल तापस धर्म को प्राप्त नहीं कर सका। वह क्रोध के शल्यपूर्वक मरकर 'संवर' नामक ज्योतिषी देव हुआ। कुतप के कारण वह निचली श्रेणी का देव हुआ।

अब इधर पार्श्वकुमार वाराणसी नगरी में आत्मज्ञानसहित वैराग्य जीवन जी रहे हैं, और सर्व जीव उनके दर्शन से सुख प्राप्त करते हैं ।

पार्श्वनाथ-वैराग्य एवं दीक्षा

एक बार पौष कृष्णा एकादशी के दिन पार्श्वकुमार राजसभा में बैठे थे और उनका जन्मदिवस मनाया जा रहा था, देशदेशान्तर के राजाओं की ओर से उत्तमोत्तम वस्तुओं की भेंट आ रही थी । अयोध्या का राजदूत भी भेंट लेकर आया ।

पार्श्वप्रभु के दर्शन से उसे आश्चर्य हुआ । विनयपूर्वक स्तुति करके वह कहने लगा— हे प्रभो ! हमारी अयोध्यानगरी के महाराजा जयसेन को आपके



प्रति प्रगाढ़ स्नेह है, इसलिये यह उत्तम रत्न एवं हाथी आदि वस्तुएँ आपको भेंट स्वरूप भेजी हैं ।

पार्श्वकुमार ने प्रसन्नदृष्टि से राजदूत की ओर देखा और अयोध्या के वैभव की बात पूछी राजदूत ने कहा—महाराज ! हमारी अयोध्यानगरी तो तीर्थकरों की खान है, जिस पुण्यभूमि में तीर्थकर उत्पन्न होते हैं वहाँ के वैभव का क्या कहना । असंख्य वर्ष पूर्व भगवान ऋषभदेव इस भरतक्षेत्र में प्रथम तीर्थकर हुए, उनका अवतार भी अयोध्या में हुआ था, उस समय इन्द्र ने उस नगरी की रचना की थी ।

अयोध्या के वैभव की बात पार्श्वकुमार ध्यान से सुन रहे हैं। दूत कहता है— प्रभो ! तत्पश्चात् अजितनाथ, अभिनन्दन स्वामी, सुमतिनाथ तथा अनन्तनाथ यह चार तीर्थकर भी अयोध्यानगरी में ही अवतरित हुए थे। भरतचक्रवर्ती, भगवान रामचन्द्रजी आदि अनेक महापुरुषों ने अयोध्यानगरी को पावन किया है।

अयोध्यानगरी को तथा पूर्वकाल में हुए तीर्थकरों का वर्णन सुनकर भगवान पार्श्वकुमार गंभीर विचारों में डूब गये। उसी समय उन्हें मतिज्ञानावरण का सातिशय क्षयोपशम हुआ, वृद्धिगत ज्ञानवैभव में पूर्वकाल के अनेक भवों का साक्षात्कार हुआ, अर्थात् जातिस्मरण ज्ञान हुआ और वे संसार से विरक्त हो गये। अरे ! पूर्वकाल में स्वर्गलोक के वैभव का भी यह जीव अनेकों बार उपभोग कर चुका है तथापि इसे तृप्ति नहीं हुई, बाह्य पदार्थों से जीव को कभी तृप्ति नहीं होगी। अहा, धन्य हैं वे ऋषभादि तीर्थकर भगवन्त कि जिन्होंने संसार छोड़कर मोक्षपद को प्राप्त कर लिया ! मुझे तीर्थकर नाम कर्म का बंध हुआ, उससे क्या लाभ हुआ ? 'किं जातः तीर्थकृत नाम बंधनात्?'...मुझे जगत के सामान्य मनुष्यों की भाँति संयम रहित काल गँवाना उचित नहीं हैं। ऋषभादि जिनवर जिस मार्ग पर चले उसी मार्ग पर मुझे जाना है, इसलिये अब आज ही मैं दीक्षा लेकर मुनि बनूँगा और अपनी आत्म साधना पूर्ण करूँगा।

इसप्रकार भव से विमुख और मोक्ष के सन्मुख हुए भगवान वैराग्य भावना भाने लगे। शरीर तो जीवन रहित है, उसमें चेतना नहीं है, ज्ञान दर्शनमय चेतना ही मेरा जीवन है, मैं सदा ज्ञान-दर्शन स्वरूप एक शाश्वत जीव हूँ। उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी मेरा नहीं है, इसलिए सर्वत्र ममत्व छोड़कर मैं अपने चिदानन्द स्वरूप में लीन होता हूँ। इसप्रकार वैरागी भगवान चारित्र ग्रहण करने को तत्पर हुए कि चारित्रमोह की सेना थर-थर काँपने और भागने लगी। दीक्षा का उत्सव करने हेतु इन्द्रादि आ पहुंचे, लौकान्तिक देव एकावतारी हैं वे भी आये और भगवान के वैराग्य का अनुमोदन किया।

दीक्षा के लिये तत्पर हुए भगवान ने माता के पास जाकर कहा—हे माता ! अब मैं चारित्र साधना द्वारा केवलज्ञान प्रगट करने जाता हूँ उसीप्रकार पिताजी



की आज्ञा लेकर भगवान 'विमला' नामक शिबिका में आरूढ़ होकर वन में गये और स्वयं दीक्षा लेकर आत्मध्यान करने लगे। भगवान ने तीस वर्ष की आयु में अपने जन्म के दिन ही दीक्षा ग्रहण की, उनके साथ अन्य तीन सौ राजाओं ने जिनदीक्षा ले ली। अहा, तीनसौ मुनियों से भरा हुआ वह दीक्षावन अद्भुत वीतरागता से सुशोभित था, वन का वह शांत-वीतरागी वातावरण मानो वीतरागता को ही प्रसिद्ध कर रहा था।

दिगम्बर मुद्राधारी उन मुनिराज के वस्त्र तो नहीं थे और अंतर में मोह भी नहीं था। निर्विकल्प शुद्धोपयोग रूप सहज दशा से वे महात्मा शोभायमान थे।

प्रभु को ध्यान में तुरन्त ही सातवाँ गुणस्थान प्रगट हुआ और मनःपर्यय ज्ञान भी खिल उठा। अनन्त गुण मानो एक—दूसरे की प्रतियोगिता कर रहे हों, इसप्रकार शीघ्रता से विकसित होने लगे। मौनरूप से वे पार्श्वमुनिराज आत्मा का निजकार्य साधने लगे। सर्वप्रथम गुल्मखेटनगर के ब्रह्मदत्त (अथवा धन्य) राजा ने उन मुनिराज को आहारदान दिया और धन्य हो गये।

शरीर और आत्मा की भिन्नता जानने वाले तथा शत्रु एवं मित्र में समभाव रखनेवाले वे पारसमुनिराज अंतर में बारम्बार शुद्धोपयोग द्वारा निजरूप को ध्याते थे और अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करते थे। उनके निकट सिंह और हिरन, सर्प और मोर आदि जीव भी शांतिपूर्वक एकसाथ बैठते और एकदूसरे के मित्र बन जाते थे। प्रभु को देखकर वे पशु भी प्रसन्न हो जाते थे।

संगमदेव का उपसर्ग और प्रभु को केवलज्ञान प्राप्ति

इसप्रकार मुनिदशा में आत्मध्यान सहित विचरते-विचरते चार महिने बीत गये भगवान् की शुद्धता में वृद्धि होते-होते केवलज्ञान की तैयारी हुई। एक बार वे मुनिराज सात दिन का ध्यान योग धारण करके कायोत्सर्ग पूर्वक खड़े थे, उनकी मुद्रा दर्शनीय थी। वे स्वयं ही साक्षात् मोक्षमार्ग थे, कायाकी माया को भूलकर स्वरूप में लीन होकर, वे निर्ग्रन्थ दशा द्वारा भव का अंत कर रहे थे। जगत की बाह्यदृष्टि छोड़कर निजस्वरूप के अवलोकन में तल्लीन थे। इतने में एक घटना हुई।

आकाश मार्ग से एक देवविमान जा रहा था, ज्यों ही वह विमान भगवान् के ऊपर आया कि अचानक अटक गया। नीचे पार्श्वनाथ जैसे महामुनिराज तपस्या कर रहे हों उन्हें वंदन किये बिना वह विमान कैसे आगे बढ़ता? उस विमान में बैठे हुए देव ने बहुत प्रयत्न किया किन्तु विमान नहीं चला। कौन है वह देव? आप जानते हैं। वह तो संगम देव था, अपना पुराना परिचित कमठ का जीव।

संगम देव ने विमान से बाहर आकर देखा तो पार्श्वमुनिराज ध्यानमग्न खड़े हैं! बस उन्हें देखते ही वह क्रोध से आग बबूला हो उठा और सोचने लगा अवश्य इसी ने मेरा विमान रोका है।

वह भयंकर विकराल रूप धारण करके भगवान् के सामने आ खड़ा हुआ, मानो इसी क्षण उनको खा जायेगा। इसप्रकार अत्यन्त क्रोध से मुँह फाड़कर बोला— अरे मायावी! तूने मंत्रबल से मेरे विमान को क्यों रोक रखा है? शीघ्र ही विमान को छोड़ दे, नहीं तो मैं तुझे भस्म कर दूँगा। ऐसा कहकर वह मुँह से अग्नि की लपटें निकालने लगा।



परन्तु कौन बोले ? भगवान् तो ध्यान में लीन हैं, वे न तो कुछ बोले और न हिले-डुले, उनका रोम तक नहीं हिला ! (अरे कमठ ! तू स्वयं ही अपने क्रोध से जल रहा है, तेरा क्रोध भगवान् को नहीं जला सकता !) कमठ द्वारा फेंकी गई आग की लपटें प्रभु से दूर ही रहती थीं, भगवान् तो अपने उपशमरस में सराबोर थे ।

अग्नि की ज्वालाओं का भगवान् पर कोई प्रभाव न होने से वह संवरदेव और भी क्रोधित हुआ और पर्वत जैसे बड़े-बड़े पत्थर उठाकर भगवान् पर फेंकने लगा । धड़ाधड़ पत्थरों की वर्षा होने से धरती काँप उठी । वन के प्राणी काँपने लगे और धरणेन्द्र का आसन भी डोल उठा । किन्तु भगवान् तो निष्कम्प आत्मध्यान में लीन थे । पत्थरों की वर्षा हो ऐसी विक्रिया संवरदेवने की, परन्तु भगवान् का तो बाल भी बाँका नहीं हुआ । उनके ऊपर पत्थर का एक कण भी नहीं गिरा-ऐसा उनका अतिशय था । तीर्थंकर के शरीर पर कोई सीधा उपसर्ग नहीं कर सकता । बाहर में संवरदेव विशाल पत्थर उखाड़ कर फेंक रहा था किन्तु पत्थर तो प्रभु से दूर ही रहते थे, और प्रभु तो अंतर ध्यान द्वारा कर्मरूपी पर्वत के टुकड़े-टुकड़े कर रहे थे ।

पत्थरों की वर्षा से भी प्रभु जब अडिग रहे, तब संवरदेव ने मूसलाधार पानी बरसाना प्रारम्भ किया । मानो समस्त पृथ्वी डूब जायेगी-ऐसा समुद्र जैसा पानी हिलोरें लेने लगा । वन में चारों ओर हाहाकार मच गया । पशु भयभीत होकर प्रभु की शरण में आ गये । संवरदेव ने क्रोधपूर्वक पार्श्वप्रभु पर जो घोर उपसर्ग कर रहा था उसे प्रकृति भी मानो सहन नहीं कर सकी । धरणेन्द्र का आसन काँपने लगा । अरे ! यह मेरा इन्द्रासन क्यों डोल रहा है ? अवधिज्ञान से उसे पता चला कि हम पर परम उपकार करने वाले पार्श्वमुनिराज पर इस समय संवरदेव घोर उपसर्ग कर रहा है । तुरन्त धरणेन्द्र और पद्मावती वहाँ आ पहुंचे और उपसर्ग दूर करने में तत्पर हुए ।

एक ओर संवरदेव भयंकर द्वेषपूर्वक उपसर्ग कर रहा है तो दूसरी ओर धरणेन्द्र तथा पद्मावती भक्ति-भावपूर्वक प्रभु की सेवा-सुश्रूषा में लगे हैं ।

भगवान तो दोनों से परे अपनी चैतन्यसाधना में ही तत्पर हैं। 'शत्रु-मित्र के प्रति वृत्तें समदर्शिता' उन्हें न तो संवरदेव के प्रति द्वेष है और न धरणेन्द्र-पद्मावती के प्रति राग, बाह्य में क्या हो रहा है उसका भी उन्हें लक्ष नहीं है। बाह्य में पानी की घनघोर वर्षा हो रही है तो प्रभु के अंतर में आनन्द का सागर हिलोरें ले रहा है।

प्रिय पाठक ! इस समय भगवान पर ऐसा उपसर्ग देखकर तुम्हें कदाचित् उस कमठ के जीव पर (संवरदेव पर) क्रोध आ जाता होगा। किन्तु ठहरो ! तुम उस पर क्रोध न करो, वह जीव शीघ्र ही सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके धर्मात्मा बनने वाला है। जिन पार्श्वनाथ पर वह उपसर्ग कर रहा है, उन्हीं पार्श्वप्रभु की



शरण में आत्मा का अनुभव करके वह सम्यग्दर्शन को प्राप्त करेगा और तब उनके प्रति बहुमान जागृत होगा कि वाह ! धन्य है वह आत्मा कि जिसने क्षणमात्र में परिणामों का परिवर्तन करके आत्मानुभव किया। परिणामों को क्षणभर में बदला जा सकता है। क्रोध कहीं आत्मा का स्वभाव नहीं है कि वह नित्य स्थिर रहे। उस क्रोध से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा है। उपसर्ग के समय पार्श्वनाथ ने भी कमठ के जीव पर

क्रोध नहीं किया था, क्रोध किया होता तो केवलज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते। इस घटना के द्वारा मौनरूप से पार्श्वप्रभु ऐसा उपदेश देते हैं कि हे जीवो ! तुम उपसर्ग कर्ता के प्रति भी क्रोध नहीं करना, तुम तो शांतभाव से अपनी आत्म साधना में अडिग रहना—

**बहु उपसर्गकर्ता प्रत्येक पण क्रोध नहीं,
वन्दे चक्री तथापि न मले मान जो।**

**देह जाय पण माया थाय न रोममां,
लोभ नहीं छो प्रबल सिद्धि निदान जो ॥**

ऐसी अपूर्व मुनिदशा में प्रभु वर्त रहे हैं। धन्य है उनकी वीतरागता, धन्य है उनकी आत्मसाधना। इधर संवरदेव तो मानो भगवान को पानी में डुबा दें-इस प्रकार मूसलाधार पानी बरसा रहा है, धरणेन्द्र और पद्मावती अत्यन्त भक्तिपूर्वक पानी में कमल की रचना करके प्रभु को पानी से ऊपर रख रहे हैं और विशाल फन द्वारा छत्र तान रहे हैं। अंतर में परभाव से अलिप्त रहनेवाले भगवान बाह्य में पानी से भी अलिप्त ही रहे।

अहा ! भगवान तो आत्मसाधना से नहीं डिगे सो नहीं डिगे। सात-सात दिन तक उपसर्ग करके अंत में कमठ थका, अंतिम प्रयत्न के रूप में उसने भयंकर गर्जना के साथ बिजली और बादलों की गड़गड़ाहट की। बाह्य में बिजली की चमक हुई ठीक उसी समय प्रभु के अंतर में केवलज्ञान की दिव्य ज्योति त्रिलोक को प्रकाशित करती हुई जग उठी। अचानक ही सर्व उपसर्ग विलुप्त हो गये और सर्वत्र आनन्द-आनन्द छा गया। वह दिन था चैत्र कृष्णा चतुर्थी का।

धरणेन्द्र और पद्मावती जिस उपसर्ग को दूर करने की चेष्टा कर रहे थे वह कार्य केवलज्ञान के प्रताप से अपने आप पूर्ण हो गया। प्रभु उपसर्ग-विजेता होकर केवली बने। केवली को उपसर्ग नहीं होता। उपसर्ग समाप्त होते ही धरणेन्द्र पद्मावती का कार्य भी समाप्त हो गया, वे भगवान के केवलज्ञान का ऐसा दिव्य अतिशय देखकर अति आनन्दपूर्वक पार्श्वप्रभु की स्तुति करने लगे-अहा प्रभु। आपके केवलज्ञान की महिमा अद्भुत है। हे देव ! आप समर्थ हो, हम आपकी रक्षा करने वाले कौन होते हैं? प्रभो आपके प्रताप से हमें धर्म प्राप्त हुआ और आपने संसार के घोर दुःखों से हमारी रक्षा की है। प्रभो, आपके नाम के साथ हमारा नाम देखकर अज्ञानीजन आपको भूलकर हमें पूजने लगे, परन्तु पूजनीय तो आप समान वीतराग देव ही हैं। इसप्रकार स्तुति की। भगवान को केवलज्ञान होने पर इन्द्रों ने आकर भगवान की पूजा स्तुति के पश्चात्

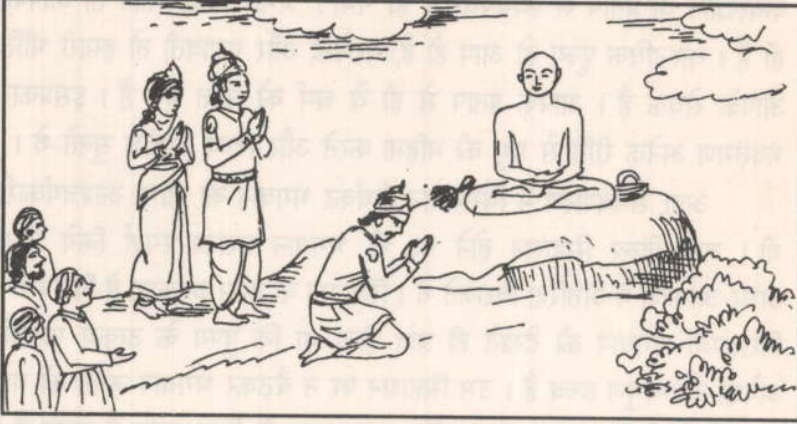
आश्चर्यकारि दिव्य समवशरण की रचना की। जीवों के समूह प्रभु का उपदेश सुनने के लिए आने लगे।

यह सब आश्चर्यजनक घटना देखकर संवरदेव के भाव भी बदल गये, केवली प्रभु की दिव्य महिमा देखकर उसे भी श्रद्धा जागृत हुई। क्रोध एकदम शांत हो गया और पश्चाताप से बारम्बार प्रभु के समक्ष क्षमा याचना करने लगा-हे देव ! मुझे क्षमा करो, मैंने अकारण ही आपके ऊपर महान उपसर्ग किया, तथापि आपने किंचित मात्र क्रोध नहीं किया। कहाँ आपकी महानता और कहाँ मेरी पामरता। ऐसे महान इन्द्र भी भक्ति पूर्वक आपकी सेवा करते हैं। इतने समर्थ होने पर भी आपने मुझ पर क्रोध नहीं किया। क्षमा करें मैंने अज्ञान पूर्वक क्रोध करके भव भव में आपके ऊपर उपसर्ग किये, जिससे मैं ही महान दुःखी हुआ और नरकादि की घोर यातनाएँ सहन कीं। प्रभो ! अन्त में क्रोध पर क्षमा की विजय हुई। अब मैंने क्षमाधर्म की महिमा को जाना। मेरा आत्मा उपयोग स्वरूप है, वह इस क्रोध से भिन्न है-ऐसा आपके प्रताप से समझा हूँ।

समवशरण में भगवान का उपदेश सुनकर संवर देव (कमठ का जीव) भेदज्ञान करके विशुद्ध सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुआ। पार्श्वप्रभु के सम्पर्क से वह जीव पापी मिटकर मोक्ष का साधक हुआ। धरणेन्द्र और पद्मावती भी सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए, इतना ही नहीं, महिपाल तापस के साथ सात सौ कुलिंगी तापस थे, वे भी मिथ्यामार्ग को छोड़कर धर्म के सच्चे स्वरूप को समझे और भगवान के चरणों में सम्यग्दर्शन सहित उन सबने संयम धारण किया। कुगुरु मिटकर वे सच्चे जैन गुरु बन गये। अन्य कितने ही जीव भगवान के उपदेश से सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए।

देखो महापुरुषों की महिमा ! अनेक भव तक पार्श्वप्रभु का संग करने से कमठ के जीव का उद्धार हो गया। शास्त्रकार अलंकार से कहते हैं कि महापुरुषों के ग्थ मित्रता का तो कहना ही क्या ? शत्रुरूप से उनका संग भी अन्त में हित का ही कारण होता है।

कमठ का जीव धर्म को प्राप्त हुआ और भगवान की भक्ति करने लगा, यह देखकर लोग आश्चर्य से कहने लगे-वाह ! देखो जिन प्रभु की महिमा ! कमठ को भी अंत में तो प्रभु की शरण में आना पड़ा । जिसप्रकार मच्छ उछालें



मारकर समुद्र के पानी को पीड़ित करता है, तथापि अन्त में तो वह स्वयं ही समुद्र के आश्रय से जीवित है, उसीप्रकार कमठ के क्षुद्रजीव ने बैर बुद्धि से अनेकभव तक पीड़ित किया, परन्तु अन्त में तो उसे प्रभु की शरण में ही धर्म की प्राप्ति हुई । प्रभु के आश्रय के बिना वह कहाँ से सुखी होता ? अहा, प्रभु का ज्ञान, प्रभु की शांति, प्रभु की वीतरागी क्षमा का क्या कहना ! प्रभु की गंभीरता तो समुद्र से भी महान है । हे पार्श्व जिनेन्द्र ! सर्व तीर्थकर समान होने पर भी आपकी जो विशेष प्रसिद्धि दिखायी देती है वह तो कमठ के कारण है । ठीक ही है, क्योंकि अपकार करने वाले शत्रुओं द्वारा ही महापुरुषों की ख्याति फैलती है । प्रभो ! संवरदेव की भयंकर विक्रिया के समय भी आप न तो अपनी शांति से च्युत हुए और न कमठ पर क्रोध किया । आपने तो शांतचित्त से कमठ की विक्रिया दूर की, और जगत को बतलाया कि सच्ची विजय क्रोध द्वारा नहीं, किन्तु क्षमा द्वारा ही प्राप्त होती है । कमठ के दुष्ट भाव के कारण उसी की हानि हुई, आपकी आत्मसाधना में तो कोई बाधा नहीं आयी । सचमुच, आपकी महिमा और आपकी शांति आश्चर्यजनक है । हे प्रभो ! यह धरणेन्द्र एवं पद्मावती दोनों

जीव आपके महान कृतज्ञ हैं, उपकार को मानने वाले हैं और धर्मात्मा हैं। इस प्रकार जगत में उनकी प्रशंसा होती है, परन्तु हमें यह खोजना पड़ेगा कि आपका उपसर्ग किसप्रकार दूर हुआ? क्या धरणेन्द्र ने दूर किया अथवा आपके केवलज्ञान के प्रताप से स्वयमेव दूर हो गया? प्रभो सच्चा प्रताप तो आपका ही है। वास्तविक पूज्य तो आप ही हैं, धरणेन्द्र और पद्मावती तो हमारी भाँति आपके सेवक हैं। आपके प्रताप से ही वे धर्म को प्राप्त हुए हैं। इसप्रकार भक्तगण अनेक रीति से प्रभु की महिमा करते और दिव्य उपदेश सुनते थे।

अहा, समवशरण में विराजमान तीर्थकर भगवान की शोभा आश्चर्यकारी थी। वहाँ दिव्य सिंहासन होने पर भी भगवान उसका स्पर्श किये बिना अधर-आकाश में अंतरिक्ष विराजते थे। सिंहासन के ऊपर आकाश में विराजमान निरालम्बी भगवान को देखते ही ज्ञात होता था कि पुण्य के उत्कृष्ट फलकी अपेक्षा चैतन्यगुण उच्च है। उस सिंहासन पर न बैठकर भगवान जगत को यह बतलाते थे कि पुण्यफलरूप यह सिंहासन आत्मा के लिए अपद है-अपद है! रत्नजड़ित सिंहासन होने पर भी भगवान तो उससे अलिप्त थे, उनको सिंहासन का आधार नहीं था, परन्तु उलटी सिंहासन की शोभा भगवान के प्रताप से थी! उसीप्रकार बाह्य में स्फटिक के तीन छत्र भले ही सुशोभित थे, परन्तु अंतर में प्रभु के रत्नत्रय की शोभा कुछ और ही थी। देवों के दुंदुभि बाँधों की अपेक्षा प्रभु की दिव्य ध्वनि विशेष मधुर थी। प्रभु के मुख का प्रभामंडल भले ही सूर्य-चन्द्र से अधिक दैदीप्यमान था, परन्तु उनके केवलज्ञान की चैतन्यप्रभा के अतीन्द्रिय तेज का तो सम्यग्दृष्टियों को ही अनुभव होता था।

भगवान के समवशरण में कल्पवृक्ष थे। दस प्रकार की भोगसामग्री प्रदान करनेवाले कल्पवृक्षों को देखकर मुमुक्षु को ऐसा लगता था कि अरे, यह कल्पवृक्ष तो बाह्यफल देने वाले हैं, परन्तु सर्वज्ञ देव तो ऐसे कल्पवृक्ष हैं कि जिनकी सेवा से सम्यग्दर्शनादि चैतन्य रत्नों की प्राप्ति होती है। इसीलिये तो मुमुक्षुगण दस प्रकार की समग्री देने वाले कल्पवृक्षों को छोड़कर केवलज्ञानरूपी अद्वितीय कल्पवृक्ष की ओर दौड़ते थे और अपूर्व सम्यक्त्वादि रत्न प्राप्त करते थे। अहा,

प्रभु की गुणमहिमा का वर्णन कौन कर सकता है? वह वचनगोचर नहीं है, वह तो ज्ञानियों को ही अनुभवगम्य है।



भगवान् का उपदेश भी अद्भुत था ! आत्मा की परम महिमा समझाकर, वे इसकी आराधना का उपदेश देते थे। भगवान् ने उपदेश में क्या कहा? वह संक्षेप में देखें—

* जगत में जानने योग्य तत्त्व कौन से हैं?

जीव, अजीव, पुण्य-पाप, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन नवतत्त्वों को जानना चाहिए।

* इनमें से कौन से तत्त्वों का ग्रहण करें और किन्हें छोड़ें?

शुद्ध जीव का, तथा संवर-निर्जरा-मोक्ष का ग्रहण करना और शेष तत्त्वों को छोड़ना। जीव सदा अपनी चेतना द्वारा जीवित रहने वाला है।

* जीव को मोक्षसुख की प्राप्ति कैसे होती है?

आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य द्वारा मोक्ष होता है। जीव को पाप से नरक, पुण्य से स्वर्ग और रत्नत्रयरूप वीतरागधर्म से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

ऐसा मोक्षमार्ग का उपदेश भगवान् ने दिया। जिस मार्ग से स्वयं मोक्ष प्राप्त किया, वही वीतराग मार्ग जगत को बतलाया। अनेकों जीव उस मार्ग को

समझकर धर्म को प्राप्त हुए, कितने ही जीवों ने दीक्षा लेकर मुनिदशा धारण की, सिंह, हाथी, बंदर, सर्पादि तिर्यच जीव भी आत्मा को समझकर व्रतधारी हुए। इसप्रकार चारों ओर धर्म का जयजयकार हो गया।

भगवान की धर्मसभा में स्वयंभूस्वामी आदि 10 गणधर, 350 श्रुतकेवली, 10,000 उपाध्याय, 1400 अवधिज्ञानी, 750 मनःपर्ययज्ञानी, 1000 केवलज्ञानी, 1000 ऋद्धिधारी मुनिवर, तथा 600 मुनिवर वाद-विवाद में निपुण थे। कुल सोलह हजार मुनिवर एवं छत्तीस हजार आर्यिकाएँ थीं। उनमें सुलोचना नाम की आर्यिका मुख्य थीं। श्रावक-श्राविकाओं की संख्या क्रमशः एक लाख एवं तीन लाख थी। स्वर्ग के देव और वन के पशु भी प्रभु की दिव्यवाणी श्रवण करने आते थे, और धर्म प्राप्त करके आत्मा का उद्धार करते थे।

श्री पार्श्वनाथ तीर्थंकर ने 70 वर्ष तक देश-देशान्तर में विहार किया और अन्त में सम्मेदगिरि पर पधारे। अब उन्हें मोक्ष जाने में एक मास शेष था, इसलिये उनकी वाणी एवं विहारादि की क्रियाएँ थम गईं। पार्श्वप्रभु सम्मेदशिखर की सर्वोच्च टोंक पर ध्यानस्थ खड़े थे। तृतीय एवं चतुर्थ शुक्लध्यान पूर्ण करके वे अयोगी भगवान दूसरे ही क्षण ऊर्ध्वगमन करके मोक्ष पधार। शरीर छोड़कर अशरीरी हुए, संसारदशा छोड़कर महाआनन्द रूप सिद्धदशारूप परिणमित हुए। इन्द्रों ने प्रभु का मोक्ष कल्याणक मनाया। भगवान श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन मोक्ष पधारे थे इसलिये उसे 'मोक्ष सप्तमी' कहा जाता है पार्श्वनाथ भगवान का मुक्तिधाम होने से वह पर्वत भी आज पारसनाथ हिल के रूप में जाना जाता है। पर्वत की जिस टोंक से भगवान मोक्ष पधारे वह पत्थर की टोंक भी 'पारस' के स्पर्श से 'सुवर्ण' की हो गई इसलिये उसका नाम सुवर्णभद्र पड़ा।